श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस-सौ वीं निर्वाणतिथि-समारोह के उपलक्ष्य

सूक्ति त्रिवेणी

(प्रथम खण्ड, जैन धारा)

उपाध्याय अमर मुनि

श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

सन्मति साहित्य-रत्नमाला का रत्न ९९ वाँ

पुस्तक:
सूक्ति त्रिवेणी जैनधारा
(प्रथम खण्ड)

सपादक
उपाध्याय अमर मुनि

विपय
प्राचीन प्राकृत जैन वाङ्मय की बारह-सौ एक सूक्तियाँ

पुस्तक-पृष्ठ
दो सौ अडतालीस

प्रथम प्रकाशन
१५ अगस्त १९६७

प्रकाशक
सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामडी, आगरा २

मूल्य चार रुपए

मुद्रक
विष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
राजाकीमंडी, आगरा—२

सम्पादकीय

लगभग तीन दशक हुए जव 'महावीर वाणी' के सम्पादन मे सुविश्रुत प० वेचरदासजी के साथ कुछ कार्य करने का सुप्रसङ्ग मिला था। तभी से जैन आगम साहित्य की सूक्तियो का विशाल सकलन करने की परिकल्पना अन्तर्मन मे रूपायित होने लगी थी। यथावसर वह विकसित एव गतिशील भी हुई, परन्तु अन्य अनेक व्यवधानो के कारण वह पूर्णता के बिन्दु पर पहुँच कर यथाभिलषित मूर्तरूप न ले सकी। इस दीर्घ अवधि के बीच विभिन्न स्थानो से, विभिन्न रूपो मे, विभिन्न सूक्ति-सकलन प्रकाशित हो चुके है। अपने स्थान मे प्रत्येक वस्तु की अपनी कुछ-न-कुछ उपयोगिता होती है, इसके अतिरिक्त मैं उनके सम्बन्ध मे और अधिक क्या कह सकता हूँ। मुझे तो केवल अपनी वात कहनी है, और मैं वह कह रहा हूँ।

कुछ समय पूर्व समय की परतो के नीचे दबी हुई जैन साहित्य के सुभाषितो की अपनी कुछ फाइलें टटोल रहा था, तो विचार आया, इस अधूरे कार्य को अव पूर्ति के पथ पर ले आना चाहिए। तभी कुछ स्नेही साथियो और जिज्ञासुओ के परामर्श मिले कि आगम सूक्तियो के एकाधिक सस्करण प्रकाशित हो जाने पर भी कोई खटक उनमे रह गई है, इस कारण उनकी सार्वदेशिक उपयोगिता जैसी होनी चाहिए थी नही हो पाई। अत आप कुछ मार्ग वदलकर चले तो अच्छा रहेगा।

अव तक के प्रकाशित अनेक सकलनो को एक दौड़ती नजर से देख जाने पर यह खटक वस्तुत मन मे खटक जाती है कि वहुत समय पहले जो दृष्टि-बिन्दु महावीर वाणी के साथ आगे आया था, अब तक के उत्तरवर्ती सकलनो मे कोई भी सकलन उस से आगे नही वढा है। प्राय सव उसी धुरी के अगल-वगल घूमते रहे हैं, फलत उन्ही सुभाषितो का कुछ हेर-फेर के साथ प्रकाशन होता रहा है।

जैन साहित्य का सूक्तिभण्डार महासागर से भी गहरा है। उसमे एक से एक दिव्य असख्य मणि मुक्ताएँ छिपी पडी हैं। सुभाषित वचनो का तो वह एक महान् अक्षय कोष है। अध्यात्म और वैराग्य के ही उपदेश नही, किन्तु नीति,

व्यवहार और जीवन के हर पहलू को छूने वाले सुवचन उनमे यत्र-तत्र विखरे पडे हैं। उन्हे पाने के लिए कुछ गहरी डुवकी लगानी पडती है। किनारे-किनारे घूमने से और दृष्टि को सकुचित रखने से वे दिखाई नही दे सकते हैं, पलक मारते सहसा उपलव्ध नही हो सकते है।

वत्तीस आगमो के अतिरिक्त, प्रकीर्णक आगमो मे, नियुंक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य मे ऐसे प्रेरणाप्रद, जीवनस्पर्शी, सरस सुभापितो का विशाल भण्डार भरा हुआ है कि खोजते जाइए, पाते जाइए और उनके रसास्वादन से स्वय तृप्त होकर दूसरो को भी तृप्त करते जाइए। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्मरस से सुस्निग्ध सुभापित आत्मा को छूते हुए से लगेंगे, तो आचार्य भद्रवाहु और सिद्धसेन के सुवचन दर्शन की अतल गहराई से निकलते जल-स्रोत की तरह हृदय को आप्लावित करते हुए प्रतीत होंगे। ये सुभापित जीवन मे उतर जाएँ तो कहना ही क्या, यदि इनका सतत स्वाध्याय भी किया जाए, तो भी हृदय मे आनन्द की सुमधुर अनुभूतियाँ जगने लगती हैं, एक दिव्य प्रकाश सा चमकने लगता है और लगता है कि कुछ मिल रहा है, अन्धकार की परतें टूट रही हैं, विकल्प शान्त हो रहे हैं और मन, वाणी एव देह अपूर्व शान्ति, सन्तोप और शीतलता का अनुभव कर रहे हैं। इस प्रकार की अनुभूति ही अध्ययन की उपयोगिता है, स्वाध्याय की अमर फलश्रुति है।

इस संकलन मे अज्ञात रूप से प्रेरक एक वात और भी है, जो मन को कुरेदती रही है, एक प्रेरणा वनकर इस कार्य को विराट् रूप देने मे संकल्पो को दृढ एव दृढतर करती रही है। वह यह कि जैन जगत् के अनेक लेखक व प्रवक्ता, जहाँ अपने लेखो, तथा प्रवचनो मे पुराणो एवं स्मृतियो के कुछ श्लोक, हितोपदेश आदि के कुछ सुभापित, सूर, तुलसी और कवीर आदि के कुछ दोहे, शायरो के कुछ वहुप्रचलित उर्दू शेर और शेक्सपियर और गेटे की कुछ पक्तियो का वार-वार प्रयोग करके जन-जीवन मे प्रेरणा भरते रहते हैं, वहाँ उनके 'सरस्वती-भण्डार' मे प्राचीन जैनसाहित्य की सूक्तियो का कुछ अभाव-सा खलता है। ऐसा लगता है कि वे अपने ही साहित्य और सस्कृति से अनजाने रहकर विश्व के सास्कृतिक-समन्वय की भावना रखते हैं। इस वात मे सिर्फ उनका ही दोप नही है, किन्तु इस प्रकार की भावना जगाने वाला वातावरण और साहित्य भी पर्याप्त मात्रा मे अभी उपलव्ध भी कहाँ हो रहा है? कुछ अध्ययन-

शीलता का अभाव और कुछ साहित्य की उपलब्धि का अभाव और कुछ सांस्कृतिक परम्परा के सरक्षण की वृत्ति का अभाव—यो इन कारणो से एक प्रकार का सास्कृतिक-ह्रास वर्तमान युग मे हो रहा है, और इसी सास्कृतिक-ह्रास ने इस सूक्ति सकलन को कुछ विस्तार देने और साथ ही शीघ्रता से सम्पन्न होने मे प्रेरणा दी है।

जैन साहित्य की सूक्तियो को बहुत व्यापकता के साथ सकलित करने की कल्पना को भी मुझे दो कारणो से सीमित करना पडा है। एक—सकलन बहुत विशाल हो जाने के भय से सिर्फ प्राकृत साहित्य की सूक्तियाँ ही लेने का निश्चय किया गया, और उनमे भी कुछ प्रमुख ग्रन्थ ही। सम्पूर्ण सस्कृत और अपभ्रंश साहित्य को यों ही अछूता छोड देना पडा।

दूसरी बात दिगम्बर परम्परा के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थो की सूक्तियो का बहुत ही सक्षेपीकरण करना पडा, कुछ समयाभाव, कुछ शरीर की अस्वस्थता और कुछ ग्रन्थ की विशालता के भय से।

सूक्तियो के अनुवाद मे एक विशेष दृष्टिकोण रखा गया है। दो हजार वर्ष प्राचीन भाषा के वर्तमान का अर्थबोध प्राय. विच्छिन्न-सा हो चुका है। तद्युगीन कुछ विशेष शब्दो और उपमानो से वर्तमान का पाठक अपरिचित-सा है। ऐसी स्थिति मे प्राकृत सूक्तियो के शब्दानुवाद मे पाठक उनकी भावनाओ को सीधा हृदयङ्गम नही कर पाता, केवल शाब्दिक उलझन मे भटक कर रह जाता है। इस दृष्टि से हमने अनुवाद को भावानुलक्षी रखने का प्रयत्न किया है ताकि अति प्राचीनप्राकृत भाषा के मूल अभिप्राय को पाठक सरलता और सरसता के साथ ग्रहण कर सकें। कुछ सास्कृतिक एव पारिभाषिक शब्दो से परिचय बनाये रखने की दृष्टि से उन्हें भी यथास्थान रखा गया है, और साथ मे उनका अर्थ भी दे दिया है।

सूक्तियो को विषयानुक्रम से रखने की कल्पना भी सामने थी। किन्तु इससे एक ही आगम व एक ही आचार्य की सूक्तियाँ बिखर जाती और उनकी धारा तथा स्वारस्य खण्डित-सा हो जाता, इसलिए उन्हे विषयानुक्रम मे नही रखकर ग्रन्थानुक्रम से ही रखा गया है। जिन ग्रन्थो की सूक्तियाँ बहुत ही अल्पमात्रा मे ली गई, उन बिखरी हुई सूक्तियो का समावेश अन्त मे सूक्तिकण के नाम से कर दिया गया है।

अनेक अजैन विद्वानो की यह शिकायत भी मेरे ध्यान मे रही है कि वे प्राचीन जैन वाङ्मय के सुभाषितो का रसास्वाद लेना चाहते हुए भी ले नही पाते हैं, चूँकि कोई ऐसा सग्रह उनके सामने ही नहीं है, जो स्वल्प श्रम एव स्वल्प समय मे उनकी जिज्ञासा को तृप्त कर सके। मुझे आशा है कि उनकी इस शिकायत को भी इस सग्रह मे कुछ समाधान मिल सकेगा।

सूक्ति त्रिवेणी की द्वितीय धारा मे बौद्ध-वाङ्मय एव तृतीय धारा मे वैदिक वाङ्मय की सूक्तियां सकलित की गई है। पाठको की सुविधा के लिए तीनो धाराओ का सयुक्त रूप भी रखा गया है और खण्ड रूप भी।

आशा है इस सग्रह का प्राचीन सूक्तियो एव सुभाषितो के क्षेत्र मे एक नवीनता के साथ पाठक स्वागत करेंगे और इसके स्वाध्याय से वे भारत का कुछ-न-कुछ प्राचीन ज्ञानालोक प्राप्त कर प्रमुदित होंगे।

नाग पचमी
१०—८—६७
आगरा

—उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशकीय

चिरअभिलषित, चिरप्रतीक्षित—'सूक्ति त्रिवेणी' का सुन्दर और महत्व-पूर्ण सकलन अपने प्रिय पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपने को गौरवान्वित करते हैं।

जैनजगत के वहुश्रुत मनीषी, उपाध्याय श्री जी की चिन्तन और ओजपूर्ण लेखनी से वर्तमान का जैन समाज ही नही, किंतु भारतीय सस्कृति और दर्शन का प्राय प्रत्येक प्रवुद्ध जिज्ञासु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से परिचित है। निरतर वढती जाती वृद्धावस्था, साथ ही अस्वस्थता के कारण उनका शरीर वल काफी क्षीण हो रहा है किंतु जव प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन मे वे आठ-आठ, दस-दस घंटा सतत सलग्न रहते, पुस्तको के वीच खोए रहते, तव लगता था कि उपाध्याय श्री जी अभी युवा हैं, उनकी साहित्यश्रुतसाधना अभी वैसी ही तीव्र है जैसी कि निशीथ भाष्य चूर्णि के सपादन के समय थी।

'सूक्ति त्रिवेणी' सूक्ति और सुभाषितो के क्षेत्र मे अपने साथ एक नवीन युग का श्री गणेश कर रही है। इस प्रकार के तुलनात्मक और अनुशीलपूर्ण सग्रह का अव तक भारतीय वाड्मय मे अभाव था, उस अभाव की पूर्ति यह नवीन युग का प्रारभ है।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन एक ऐसी दिशा मे हो रहा है जो अपने समग्र जैन समाज के लिए महत्वपूर्ण अवसर है। श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस-सौवी निर्वाण तिथि मनाने के सामूहिक प्रयत्न तीव्रता के साथ चल रहे हैं। विविधप्रकार के साहित्य प्रकाशन की योजनाएं वन रही है। सन्मति ज्ञान पीठ इस दिशा मे अपने सास्कृतिक प्रकाशनो को गतिशील करने के लिए सचेष्ट है। 'सूक्ति त्रिवेणी' का यह महत्वपूर्ण प्रकाशन उसी उपलक्ष्य मे हमारा पहला श्रद्धास्निग्ध उपहार है।

सूक्ति त्रिवेणी की तीनो धाराएं सयुक्त रूप से आकार मे वडी होगी, इसलिए उन्हे सयुक्त भी और अलग अलग खण्डो मे भी प्रकाशित करने का निश्चय किया है। तदनुसार 'जैन धारा' के रूप मे प्रथम खण्ड हम अपने पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करते हैं।

पुस्तक के शीघ्र तैयार होने मे कविश्री जी के सतत सहयोगी रहने वाले श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का सहकर्म अविस्मरणीय है।

—मत्री

सन्मति ज्ञान पीठ

अ नु क्र म

सूक्ति

त्रि वे णी

जैन-धारा

आचारांग की सूक्तियाँ

●

१. अत्थि मे आया उववाइए
से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी ।

—१।१।१

२. एस खलु गथे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु णरए ।

—१।१।२

३ जाए सद्धाए निक्खते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तिय ।

—१।१।३

४. जे लोग अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति ।
जे अत्ताण अब्भाइक्खति, से लोग अब्भाइक्खति ।

—१।१।३

५. वीरेहिं एय अभिभूय दिट्ठं, सजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं ।

—१।१।४

६ जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दडे त्ति पवुच्चति ।

—१।१।४

आचारांग की सूक्तियां

●

१ यह मेरी आत्मा औपपातिक है, कर्मानुसार पुनर्जन्म ग्रहण करती है आत्मा के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ही वस्तुत आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी एव क्रियावादी है।

२ यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुत ग्रन्थ=बन्धन है, यही मोह है, यही मार=मृत्यु है, और यही नरक है।

३ जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधनापथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्रोतसिका (मन की शका या कुण्ठा) से दूर रहकर उसका अनुपालन करना चाहिए।

४ जो लोक (अन्य जीवसमूह) का अपलाप करता है, वह स्वय अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है।

जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक (अन्य जीव-समूह) का भी अपलाप करता है।

५ सतत अप्रमत्त=जाग्रत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषो ने मन के समग्र द्वन्द्वो को अभिभूत कर, सत्य का साक्षात्कार किया है।

६. जो प्रमत्त है, विषयासक्त है, वह निश्चय ही जीवो को दण्ड (पीडा) देने वाला होता है।

७ त परिण्णाय मेहावी,
इयारिण णो, जमह् पुव्वमकासी पमाएण ।

—१।१।४

८ जे अज्भत्थ जाणइ, से वहिया जाणइ ।
जे वहिया जाणइ, से अज्भत्थ जाणइ ।
एय तुलमन्नेसिं ।

—१।१।४

९ जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

—१।१।५

१० आतुरा परितावेति ।

—१।१।६

११ अप्पेगे हिंसिमु मे त्ति वा वहति,
अप्पेगे हिंमति मे त्ति वा वहति,
अप्पेगे हिंसिस्सति मे त्ति वा वहति ।

—१।१।६

१२ से ण हासाए, ण कीड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए ।

—१।२।१

१३. अतर च खलु इम सपेहाए,
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए ।

—१।२।१

१४. वओ अच्चेति जोव्वण च ।

—१।२।१

१५. अणभिक्कत च वय सपेहाए, खणं जाणाहि पडिए ।

—१।२।१

१६ अरइ आउट्टे से मेहावी खणसि मुक्के ।

—१।२।२

७ मेधावी साधक को आत्मपरिज्ञान के द्वारा यह निश्चय करना चाहिए कि —"मैंने पूर्वजीवन मे प्रमादवश जो कुछ भूल की हैं, वे अब कभी नही करूँगा।"

८ जो अपने अन्दर (अपने सुख दुख की अनुभूति) को जानता है, वह बाहर (दूसरो के सुख दुख की अनुभूति) को भी जानता है।
जो बाहर को जानता है, वह अन्दर को भी जानता है।
इस प्रकार दोनो को, स्व और पर को एक तुला पर रखना चाहिए।

९ जो काम-गुण है, इन्द्रियो का शब्दादि विषय है, वह आवर्त=ससार-चक्र है।
और जो आवर्त है, वह कामगुण है।

१० विषयातुर मनुष्य ही दूसरे प्राणियो को परिताप देते हैं।

११ 'इसने मुझे मारा'—कुछ लोग इस विचार मे हिसा करते है।
'यह मुझे मारता है'—कुछ लोग इस विचार से हिसा करते हैं।
'यह मुझे मारेगा'—कुछ लोग इस विचार से हिंसा करते हैं।

१२. वृद्ध हो जाने पर मनुष्य न हास-परिहास के योग्य रहता है, न क्रीडा के, न रति के और न शृगार के योग्य ही।

१३ अनन्त जीवन-प्रवाह मे, मानव जीवन को बीच का एक सुअवसर जान कर, धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

१४ आयु और यौवन प्रतिक्षण बीता जा रहा है।

१५ हे आत्मविद् साधक ! जो बीत गया सो बीत गया। शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य मे रखते हुए प्राप्त अवसर को परख। समय का मूल्य समझ !

१६ अरति (सयम के प्रति अरुचि) मे मुक्त रहने वाला मेधावी साधक क्षण भर मे ही बन्धनमुक्त हो सकता है।

१७ अणाणाय पुट्ठा वि एगे नियट्टति,
मदा मोहेण पाउडा ।

—१।२।२

१८ इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए ।

—१।२।२

१९ विमुत्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

—१।२।२

२० लोभमलोभेण दुगुछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।

—१।२।२

२१ विणा वि लोभ निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति पासति ।

—१।२।२

२२ से असइ उच्चागोए, असइ नीआगोए ।
नो हीणे, नो अइरित्ते ।

—१।२।३

२३. तम्हा पंडिए नो हरिसे, नो कुप्पे ।

—१।२।३

२४ अणोहतरा एए नो य ओहं तरित्तए ।
अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए ।
अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए ।

—१।२।३

२५ वितह पप्प ऽ खेयन्ने,
तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ।

—१।२।३

१७. मोहाच्छन्न अज्ञानी साधक सकट आने पर धर्मशासन की अवज्ञा कर फिर संसार की ओर लौट पडते हैं।

१८. वार-वार मोहग्रस्त होने वाला साधक न इस पार रहता है, न उस पार, अर्थात् न इस लोक का रहता है और न पर लोक का।

१९. जो साधक कामनाओ को पार कर गए हैं, वस्तुत वे ही मुक्त पुरुष हैं।

२०. जो लोभ के प्रति अलोभवृत्ति के द्वारा विरक्ति रखता है, वह और तो क्या, प्राप्त काम भोगो का भी सेवन नही करता है।

२१. जिस साधक ने बिना किसी लोक-परलोक की कामना के निष्क्रमण किया है, प्रव्रज्या ग्रहण की है, वह अकर्म (बन्धनमुक्त) होकर सव कुछ का ज्ञाता, द्रष्टा हो जाता है।

२२. यह जीवात्मा अनेक वार उच्चगोत्र मे जन्म ले चुका है, और अनेक वार नीच गोत्र मे।

इस प्रकार विभिन्न गोत्रो मे जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान्।

२३. आत्मज्ञानी साधक को ऊँची या नीची किसी भी स्थिति मे न हर्षित होना चाहिए, और न कुपित।

२४. जो वासना के प्रवाह को नही तैर पाए हैं, वे ससार के प्रवाह को नही तैर सकते।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगो को पार कर तट पर नही पहुचे हैं, वे ससार सागर के तट पर नही पहुच सकते।

जो राग द्वेष को पार नही कर पाए है, वे संसार सागर से पार नही हो सकते।

२५ अज्ञानी साधक जव कभी असत्य विचारो को सुन लेता है, तो वह उन्ही मे उलझ कर रह जाता है।

२६. उद्देसो पासगस्स नत्थि ।

—१।२।३

२७ नत्थि कालस्स णागमो ।

—१।२।३

२८ सव्वे पाणा पिअाउया,
सुहसाया दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो,
जीविउ कामा
सव्वेसिं जीवियं पियं
नाइवाएज्ज कंचण ।

—१।२।३

२९ जाणित्तु दुक्खं पत्तेय साय ।

—१।२।४

३० आसं च छंदं च विगिंच धीरे !
तुमं चेव सल्लमाहट्टु ।

—१।२।४

३१ जेण सिया, तेण णो सिया ।

—१ २।४

३२. अलं कुसलस्स पमाएणं ।

—१।२।४

३३ एस वीरे पसंसिए,
जे ण णिविज्जति आदाणाए ।

—१।२।४

३४ लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा ।

—१।२।५

३५ बहुं पि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।

—१।२।५

२६ तत्वद्रष्टा को किसी के उपदेश की अपेक्षा नही है ।

२७ मृत्यु के लिए अकाल = वक्त बेवक्त जैसा कुछ नही है ।

२८ सब प्राणियो को अपनी जिन्दगी प्यारी है ।
सुख सब को अच्छा लगता है और दुःख बुरा ।
वध सब को अप्रिय है, और जीवन प्रिय ।
सब प्राणी जीना चाहते है,
कुछ भी हो, सब को जीवन प्रिय है ।
अत किसी भी प्राणी की हिंसा न करो ।

२९ प्रत्येक व्यक्ति का सुख दुःख अपना अपना है ।

३० हे धीर पुरुष ! आशा-तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग कर ।
तू स्वय ही इन काटो को मन मे रखकर दुखी हो रहा है ।

३१ तुम जिन (भोगो या वस्तुओ) मे सुख की आशा रखते हो, वस्तुत वे सुख के हेतु नही हैं ।

३२ बुद्धिमान साधक को अपनी साधना मे प्रमाद नही करना चाहिए ।

३३ जो अपनी साधना मे उद्विग्न नही होता है, वही वीर साधक प्रशसित होता है ।

३४ मिलने पर गर्व न करे ।
न मिलने पर शोक न करे ।

३५ अधिक मिलने पर भी सग्रह न करे ।
परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे ।

३६. कामा दुरतिक्कम्मा।

—१।२।५

३७ जीविय दुप्पडिवूहग।

—१।२।५

३८. एस वीरे पसंसिए,
जे बद्धे पडिमोयए।

—१।२।५

३९ जहा अंतो तहा बाहिं,
जहा बाहिं तहा अंतो।

—१।२।५

४० से मइमं परिन्नाय मा य हु लाल पच्चासी।

—१।२।५

४१ वेर वड्ढेइ अप्पणो।

—१।२।५

४२ अलं बालस्स संगेणं।

—१।२।५

४३ पावं कम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा।

—१।२।६

४४ सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ।

—१।२।६

४५ जे ममाइयमइं जहाइ, से जहाइ ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं।

—१।२।६

४६ जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी।

—१।२।६

३६. कामनाओ का पार पाना बहुत कठिन है ।

३७ नष्ट होते जीवन का कोई प्रतिव्यूह अर्थात् प्रतिकार नही है ।

३८ वही वीर प्रशसित होता है, जो अपने को तथा दूसरो को दासता के बन्धन से मुक्त कराता है ।

३९ यह शरीर जैसा अन्दर मे (असार) है, वैसा ही बाहर मे (असार) है । जैसा बाहर मे (असार) है, वैसा ही अन्दर मे (असार) है ।

४० विवेकी साधक लार=थूक चाटने वाला न बने, अर्थात् परित्यक्त भोगो की पुन कामना न करे ।

४१ विषयातुर मनुष्य, अपने भोगो के लिए ससार मे वैर बढाता रहता है ।

४२ बाल जीव (अज्ञानी) का सग नही करना चाहिए ।

४३ पापकर्म (असत्कर्म) न स्वय करे, न दूसरो से करवाए ।

४४ मनुष्य अपनी ही भूलो से ससार की विचित्र स्थितियो मे फँस जाता है ।

४५ जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुत ममत्व=परिग्रह का त्याग कर सकता है ।

— वही मुनि वास्तव मे पथ (मोक्षमार्ग) का द्रष्टा है—जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नही रखता है ।

४६ जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नही रखता है, वह 'स्व' मे अन्यत्र रमता भी नही है । और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नही है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नही रखता है ।

४७ जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ।

—१।२।६

४८ कुसले पुण नो बद्धे, न मुक्के।

—१।२।६

४९ सुत्ता अमुणी,
मुणिणो सया जागरन्ति।

—१।३।१

५० लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं।

—१।३।१

५१ माई पमाई पुण एइ गब्भं।

—१।३।१

५२ माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ।

—१।३।१

५३ पन्नाणेहिं परियाणह लोयं मुणीत्ति वुच्चे।

—१।३।१

५४. आरंभजं दुक्खमिणं।

—१।३।१

५५ अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ।

—१।३।१

५६. कम्मुणा उवाही जायइ।

—१।३।१

५७ कम्ममूलं च जं छणं।

—१।३।१

५८ सम्मत्तदंसी न करेइ पावं।

—१।३।२

४७ नि स्पृह उपदेशक जिम प्रकार पुण्यवान (सपन्न व्यक्ति) को उपदेश देता है, उमी प्रकार तुच्छ (दीन दरिद्र व्यक्ति) को भी उपदेश देता है।
और जिन प्रकार तुच्छ को उपदेश देता है, उमी प्रकार पुण्यवान को उपदेश देता है अर्थात् दोनो के प्रति एक जैसा भाव रखता है।

४८ कुशल पुरुष न बद्ध है और न मुक्त।
[ज्ञानी के लिए बन्ध या मोक्ष—जैसा कुछ नहीं है]

४९ अज्ञानी सदा सोये रहते है, और ज्ञानी सदा जागते रहते है।

५० यह समझ लीजिए कि ससार मे अज्ञान तथा मोह ही अहित और दु ख करने वाला है।

५१. मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ मे अवतरित होता है, जन्ममरण करता है।

५२ मृत्यु से सदा सतर्क रहने वाला साधक ही उससे छुटकारा पा सकता है।

५३ जो अपने प्रज्ञान से ससार के स्वरूप को ठीक तरह जानता है, वही मुनि कहलाता है।

५४ यह सब दु ख आरम्भज है, हिंसा मे से उत्पन्न होता है।

५५. जो कर्म मे से अकर्म की स्थिति मे पहुँच गया है, वह तत्वदर्शी लोक-व्यवहार की सीमा से परे हो गया है।

५६ कर्म से ही समग्र उपाधिया = विकृतियाँ पैदा होती हैं।

५७ कर्म का मूल क्षण अर्थात् हिंसा है।

५८. सम्यग् दर्शी साधक पापकर्म नही करता।

५९ कामेसु गिद्धा निचयं करेति ।

—१।३।२

६० आयकदंसी न करेइ पावं ।

—१।३।२

६१ सच्चंमि धिइं कुव्वह ।

—१।३।२

६२ अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे ।
से केयणं अरिहए पूरइत्तए ।

—१।३।२

६३ अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ।

—१।३।२

६४ आयओ बहिया पास ।

—१।३।३

६५ विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा,
महया खुड्डएहि य ।

—१।३।३

६६ का अरई के आणंदे ?

—१।३।३

६७ पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

—१।३।३

६८ पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

—१।३।३

६९ पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।

—१।३।३

५६ कामभोगो मे गृद्ध=आसक्त रहने वाले व्यक्ति कर्मों का बन्धन करते हैं।

६० जो ससार के दु खो का ठीक तरह दर्शन कर लेता है, वह कभी पापकर्म नही करता है।

६१ सत्य मे धृति कर, सत्य मे स्थिर हो।

६२ यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओ के कारण मनुष्य का मन विखरा हुआ रहता है।

वह अपनी कामनाओ की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह छलनी को जल से भरना चाहता है।

६३ (साधक अपनी दृष्टि ऊँची रखे, क्षुद्र भोगो की ओर निम्न दृष्टि न रखे) उच्च दृष्टिवाला साधक ही पाप कर्मो से दूर रहता है।

६४ अपने समान ही वाहर मे दूसरो को भी देख।

६५ महान हो या क्षुद्र हो, अच्छे हो या बुरे हो, सभी विषयो से साधक को विरक्त रहना चाहिए।

६६ ज्ञानी के लिए क्या दु ख, क्या सुख ? कुछ भी नही।

६७. मानव ! तू स्वय ही अपना मित्र है। तू वाहर मे क्यो किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है ?

६८. मानव ! अपने आपको ही निग्रह कर। स्वय के निग्रह से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है।

६९. हे मानव, एक मात्र सत्य को ही अच्छी तरह जान ले, परखले।

७० सव्वस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मार तरइ ।

—१।३।२

७१ सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झझाए ।

—१।३।३

७२ जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ॥

—१।३।४

७३ सव्वओ पमत्तस्स भयं,
सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं ।

—१।३।४

७४ जे एगं नामे, से बहु नामे ।

—१।३।४

७५ एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ ।

—१।३।४

७६ अत्थि सत्थं परेण परं,
नत्थि असत्थं परेण परं ।

—१।३।४

७७. किमत्थि उवाही पासगस्स न विज्जइ ?
नत्थि ।

—१।३।४

७८ न लोगस्सेसणं चरे ।
जस्स नत्थि इमा जाई,
अण्णा तस्स कओ सिया ?

—१।४।१

७० जो मेधावी साधक सत्य की आज्ञा मे उपस्थित रहता है, वह मार=मृत्यु के प्रवाह को तैर जाता है।

७१ सत्य की साधना करने वाला साधक सब ओर दु खो से घिरा रहकर भी घबराता नही है, विचलित नही होता है।

७२ जो एक को जानता है वह सब को जानता है। और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है।

[जिस प्रकार समग्र विश्व अनन्त है, उसी प्रकार एक छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त है, अनन्त गुण-पर्याय वाला है,—अत. अनत ज्ञानी ही एक और सबका पूर्ण ज्ञान कर सकता है]

७३ प्रमत्त को सब ओर भय रहता है।
अप्रमत्त को किसी ओर भी भय नही है।

७४ जो एक अपने को नमा लेता है—जीत लेता है, वह समग्र ससार को नमा लेता है।

७५ जो मोह को क्षय करता है, वह अन्य अनेक कर्म-विकल्पो को क्षय करता है।

७६ शस्त्र (=हिंसा) एक-मे-एक वढकर है। परन्तु अशस्त्र (=अहिंमा) एक-से-एक वढकर नही है, अर्थात् अहिसा की साधना से वढकर श्रेष्ठ दूसरी कोई साधना नही है।

७७ वीतराग मत्यद्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नही ?
नही होती है।

७८ लोकैषणा से मुक्त रहना चाहिए। जिसको यह लोकैषणा नही है, उसको अन्य पाप-प्रवृत्तिया कैसे हो मकती है ?

७९ जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा,
जे अपरिस्सवा ते अणासवा।

—१।४।२

८० णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।

—१।४।२

८१. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो,
एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो,
सव्वे पाणा, सव्वे भूया,
सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा
न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा
न उद्दवेयव्वा।
इत्थ विजाणह नत्थित्थ दोसो।
आरियवयणमेयं। —१।४।२

८२ पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि—
"हं भो पवाइया! किं भे सायं दुक्खं असायं?"
समिया पडिवण्णे या वि एवं बूया—
"सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं,
सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं,
असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं।"

—१।४।२

८३ उवेह एणं बहिया य लोगं,
से सव्वलोगम्मि जे केइ विण्णू।

—१।४।३

७९ जो बन्धन के हेतु हैं, वे ही कभी मोक्ष के हेतु भी हो सकते हैं, और जो मोक्ष के हेतु है, वे ही कभी बन्धन के हेतु भी हो सकते है।

जो व्रत उपवास आदि सवर के हेतु है, वे कभी कभी सवर के हेतु नही भी हो सकते हैं। और जो आस्रव के हेतु है, वे कभी-कभी आस्रव के हेतु नही भी हो सकते हैं।

[आस्रव और सवर आदि सब मूलत साधक के अन्तरग भावो पर आधारित है।]

८० मृत्यु के मुख मे पडे हुए प्राणी को मृत्यु न आए, यह कभी नही हो सकता।

८१ हम ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते है, ऐसी प्ररूपणा करते हैं, ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि—

किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उनपर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन को गुलामो की तरह पराधीन बनाना चाहिए, न उन्हे परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए।

उक्त अहिसा धर्म मे किसी प्रकार का दोष नही है, यह ध्यान मे रखिए।

अहिसा वस्तुत आर्य (पवित्र) सिद्धान्त है।

८२ सर्वप्रथम विभिन्न मत-मतान्तरो के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को जानना चाहिए, और फिर हिसाप्रतिपादक मतवादियो से पूछना चाहिए कि—

"हे प्रवादियो ! तुम्हे सुख प्रिय लगता है या दु ख ?"

"हमे दु ख अप्रिय है, सुख नही"—यह सम्यक् स्वीकार कर लेने पर उन्हे स्पष्ट कहना चाहिए कि "तुम्हारी ही तरह विश्व के समस्त प्राणी, जीव, भूत और सत्वो को भी दु ख अशान्ति (व्याकुलता) देने वाला है, महाभय का कारण है और दु खरूप है।"

८३ अपने धर्म से विपरीत रहने वाले लोगो के प्रति भी उपेक्षाभाव (=मध्यस्थता का भाव) रखो।

जो कोई विरोधियो के प्रति उपेक्षा=तटस्थता रखता है, उद्विग्न नही होता है, वह समग्र विश्व के विद्वानो मे अग्रणी विद्वान् है।

९५ इमेण चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण वज्झओ ।

—१।५।३

९६ जुद्धारिहं खलु दुल्लभं ।

—१।५।३

९७ वयसा वि एगे वुइया कुप्पंति माणवा ।

—१।५।४

९८ वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेण
नो लहई समाहिं ।

—१।५।५

९९ तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि ।

—१।५।५

१०० जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
जेण वियाणइ से आया । तं पडुच्च पडिसखाए ।

—१।५।५

१०१ सव्वे सरा नियट्टंति,
तक्का जत्थ न विज्जइ ।
मई तत्थ न गाहिया ।

—१।५।६

१०२ नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो परं आसाएज्जा ।

—१।६।५

१०३ गामे वा अदुवा रण्णे ।
नेव गामे नेव रण्णे, धम्ममायाणह ।

—१।८।१

९५ अपने अन्तर (के विकारो) से ही युद्ध कर।
वाहर के युद्ध से तुझे क्या मिलेगा ?

९६ विकारो मे युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर मिलना दुर्लभ है।

९७ कुछ लोग मामूली कहा-सुनी होते ही क्षुब्ध हो जाते हैं।

९८ शकाशील व्यक्ति को कभी समाधि नही मिलती।

९९ जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।
[स्वरूप दृष्टि से सब चैतन्य एक समान हैं। यह अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है]

१०० जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।
जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।
जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है।
जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

१०१ आत्मा के वर्णन मे सब के सब शब्द निवृत्त हो जाते हैं—
समाप्त हो जाते हैं।
वहाँ तर्क की गति भी नही है।
और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह ग्रहण कर पाती है।

१०२ न अपनी अवहेलना करो, और न दूसरो की।

१०३ धर्म गाँव मे भी हो सकता है, और अरण्य (=जगल) मे भी। क्योकि वस्तुत धर्म न गाँव मे कही होता है और न अरण्य मे, वह तो अन्त-रात्मा मे होता है।

१०४ जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंड समारभंति,
तेसिं पि वयं लज्जामो ।

—१।८।१

१०५ समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ।

—१।८।३

१०६ एगे अहमसि, न मे अत्थि कोइ,
न याऽहमवि कस्स वि ।

—१।८।६

१०७ जीविय नाभिकंखिज्जा,
मरणं नो वि पत्थए ।
दुहओ वि न सज्जेज्जा,
जीविए मरणे तहा ॥

—१।८।८।४

१०८ गथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए ।

—१।८।८।११

१०९, इंदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे मुणी ।
तहा वि से अगरहे, अचले जे समाहिए ।

—१।८।८।१४

११० वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा ।

—१।८।८।२१

१११. नो वयणं फरुसं वइज्जा ।

—२।१।६

११२ नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा ।

—२।३।१

११३. राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा
नो अंतरा भासं भासिज्जा ।

—२।३।३

११४. मणं परिजाणइ से निग्गंथे ।

—२।३।१५।१

१०४ यदि कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म के नाम पर जीवों की हिंसा करते हैं, तो हम इससे भी लज्जानुभूति करते हैं।

१०५ आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है।

१०६ मैं एक हूँ—अकेला हूँ।
न कोई मेरा है, और न मैं किसी का हूँ।

१०७ साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों में ही किसी तरह की आसक्ति न रखे, तटस्थ भाव से रहे।

१०८ साधक को अन्दर और बाहर की सभी ग्रन्थियों (बन्धन रूप गाँठों) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूर्ण करनी चाहिए।

१०९ शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी मुनि अन्तर्मन में समभाव (=स्थिरता) रखे। इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निंद्य नहीं है, यदि वह अन्तरंग में अविचल एवं समाहित है तो।

११० सब प्रकार से शरीर का मोह छोड़ दीजिए, फलतः परीषहों के आने पर विचार कीजिए कि मेरे शरीर में परीषह है ही नहीं।

१११ कठोर=कटु वचन न बोले।

११२ संकट में मन को ऊँचा नीचा अर्थात् डाँवाडोल नहीं होने देना चाहिए।

११३ अपने से बड़े गुरुजन जब बोलते हों, विचार चर्चा करते हों, तो उनके बीच में न बोले।

११४ जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है वही सच्चा निर्ग्रन्थ-साधक है।

११५. अणुवीइ भासी से निग्गंथे ।

—२।३।१५।२

११६. अणणुवीइ भासी से निग्गंथे समावइज्जा मोसं वयणाए ।

—२।३।१५।२

११७. लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए ।

—२।३।१५।२

११८. अणणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा ।

—२।३।१५।३

११९. नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे ।

—२।३।१५।४

१२०. न सक्का न सोउं सद्दा, सोतविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३१

१२१. नो सक्का रूवमद्दट्ठु, चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३२

१२२. न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३३

१२३. न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३४

१२४. न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

—२।३।१५।१३५

१२५. समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा,
तवो य पन्ना य जसो य वड्ढइ ।

—२।४।१६।१४०

११५. जो विचारपूर्वक बोलता है, वही सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

११६ जो विचारपूर्वक नही बोलता है, उसका वचन कभी-न-कभी असत्य से दूषित हो सकता है ।

११७ लोभ का प्रसग आने पर व्यक्ति असत्य का आश्रय ले लेता है ।

११८ जो गुरुजनो की अनुमति लिए विना भोजन करता है वह अदत्तभोजी है, अर्थात् एक प्रकार मे चोरी का अन्न खाता है ।

११९ जो आवश्यकता मे अधिक भोजन नही करता है वही ब्रह्मचर्य का साधक सच्चा निर्ग्रन्थ है ।

१२० यह शक्य नही है कि कानो मे पडने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अत शब्दो का नही, शब्दो के प्रति जगने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२१ यह शक्य नही है कि आँखो के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप देखा न जाए, अत रूप का नही, किंतु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग द्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२२ यह शक्य नही है कि नाक के समक्ष आया हुआ सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघने मे न आए, अत गध का नही, किंतु गध के प्रति जगने वाली राग द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए ।

१२३ यह शक्य नही है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने मे न आये, अत रस का नही, किंतु रस के प्रति जगने वाले रागद्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२४ यह शक्य नही है कि शरीर से स्पृष्ट होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अत स्पर्श का नही, किंतु स्पर्श के प्रति जगने वाले रागद्वेष का त्याग करना चाहिए ।

१२५ अग्नि-शिखा के समान प्रदीप्त एव प्रकाशमान रहने वाले अन्तर्लीन साधक के तप, प्रज्ञा और यश निरन्तर वढते रहते है ।

सूत्रकृतांग की सूक्तियाँ

●

१ बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधरणं परिजाणिया ।

—१।१।१।१

२ ममाइ लुप्पई बाले ।

—१।१।१।४

३ तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ।

—१।१।१।१४

४ नो य उप्पज्जए असं ।

—१।१।१।१६

५ जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ।

—१।१।१।२१

६ असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ।

—१।१।२।१०

७ अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ।

—१।१।२।१७

८ अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाणुगच्छइ ।

—१।१।२।१६

९. एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥

—१।१।२।२२

सूत्रकृतांग की सूक्तियां

●

१ सर्वप्रथम वन्धन को समझो, और समझ कर फिर उसे तोडो ।

२ 'यह मेरा है—वह मेरा है'—इस ममत्व बुद्धि के कारण ही वाल जीव विलुप्त होते है ।

३ परपीडा मे लगे हुए अज्ञानी जीव अन्धकार से अन्धकार की ओर जा रहे हैं ।

४. असत् कभी सत् नहीं होता ।

५ जो असत्य की प्ररूपणा करते है, वे ससार-सागर को पार नही कर सकते ।

६. मोहमूढ मनुष्य जहा वस्तुत भय की आशका है, वहाँ तो भय की आशका करते नही है । और जहाँ भय की आशका जैसा कुछ नही है, वहाँ भय की आशका करते हैं ।

७. जो अपने पर अनुशासन नही रख सकता, वह दूसरो पर अनुशासन कैसे कर सकता है ?

८. अन्धा अन्धे का पथप्रदर्शक वनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है ।

९ जो धर्म और अधर्म से सर्वथा अनजान व्यक्ति केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं, वे अपने कर्म वन्धन को तोड नही सकते, जैसे कि पक्षी पिंजरे को नही तोड पाता है ।

१० सय सय पसंसता, गरहता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया ।

—१।१।२।२३

११ जहा अस्साविणि णावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छइ पारमागंतु, अंतरा य विसीयई ॥

—१।१।२।३१

१२ समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ?

—१।१।३।१०

१३. अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ।

—१।१।४।२

१४. एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावन्तं वियाणिया ॥

—१।१।४।१०

१५ संबुज्झह, किं न बुज्झह ?
सबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइयो,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥

—१।२।१।१

१६ सेणे जहा वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टई ।

१।२।१।२

१७. नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।

—१।२।१।३

१८. सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ।

—१।२।१।४

१९. ताले जह बंधणच्चुए, एवं आउखयम्मि तुट्टती ।

—१।२।१।६

२०. जइ वि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भुंजे मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भायऽणंतसो ॥

—१।२।१।९

१० जो अपने मत की प्रशसा, और दूसरो के मत की निन्दा करने मे ही अपना पाण्डित्य दिखाते है, वे एकान्तवादी ससार चक्र मे भटकते ही रहते हैं।

११ अज्ञानी साधक उस जन्माध व्यक्ति के समान है, जो सछिद्र नौका पर चढ कर नदी किनारे पहुचना तो चाहता है किन्तु किनारा आने से पहले ही बीच प्रवाह मे डूब जाता है।

१२ जो दु खोत्पत्ति का कारण ही नही जानते, वह उसके निरोध का कारण कैसे जान पायेंगे ?

१३ अहकार रहित एव अनासक्त भाव से मुनि को रागद्वेष के प्रसगो मे ठीक बीच मे तटस्थ यात्रा करनी चाहिए।

१४ ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिसा न करे। 'अहिसामूलक समता ही धर्म का सार है, बस, इतनी बात सदैव ध्यान मे रखनी चाहिए।

१५ अभी इसी जीवन मे समझो, क्यो नही समझ रहे हो ? मरने के बाद परलोक मे सबोधि का मिलना कठिन है।
जैसे बीती हुई राते फिर लौटकर नही आती, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नही आता।

१६ एक ही झपाटे मे बाज जैसे बटेर को मार डालता है, वैसे ही आयु क्षीण होने पर मृत्यु भी जीवन को हर लेता है।

१७ मरने के बाद सद्गति सुलभ नही है। (अत जो कुछ सत्कर्म करना है, यही करो)।

१८. आत्मा अपने स्वय के कर्मों से ही बन्धन मे पडता है। कृत कर्मों को भोगे बिना मुक्ति नही है।

१९ जिस प्रकार ताल का फल वृन्त से टूट कर नीचे गिर पडता है, उसी प्रकार आयु क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।

२०. भले ही नग्न रहे, मास-मास का अनशन करे, और शरीर को कृश एव क्षीण कर डाले, किन्तु जो अन्दर मे दभ रखता है, वह जन्म मरण के अनत चक्र मे भटकता ही रहता है।

२१. पलियत मणुग्राण जीविय ।

—१।२।१।१०

२२. सउणी जह पमुगु डिया,
विहुणिय धसयई सिय रय ।
एव दविग्रोवहाणव,
कम्म खवइ तवस्सिमाहणे ॥

—१।२।१।१५

२३. मोह जति नरा ग्रसवुडा ।

—१।२।१।२०

२४. ग्रहऽसेयकरी ग्रन्नेसि इ खिणी ।

—१।२।२।१

२५. तयस व जहाइ से रय ।

—१।२।२।२

२६. जो परिभवइ पर जण, ससारे परिवत्तई मह ।

—१।२।२।१

२७. महय पलिगोव जाणिया,
जा वि य वदणपूयणा इहं ॥

—१।२।२।११

२८. सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे ।

—१।२।२।११

२९. सामाइयमाहु तस्स ज,
जो ग्रप्पाण भए ण दसए ।

—१।२।२।१७

३०. ग्रट्ठे परिहायती वहु, ग्रहिगरण न करेज्ज पडिए ।

—१।२।२।१९

३१. वाले पार्पेहि मिज्जती ।

—१।२।२।२१

२१ मनुष्यो का जीवन एक वहुत ही अल्प एव सान्त जीवन है ।

२२ मुमुक्षु तपस्वी अपने कृत कर्मों का वहुत शीघ्र ही अपनयन कर देता है, जैसे कि पक्षी अपने परो को फडफडाकर उन पर लगी धूल को झाड देता है ।

२३ इन्द्रियो के दास असवृत मनुष्य हिताहितनिर्णय के क्षणो मे मोह-मुग्ध हो जाते हैं ।

२४ दूसरो की निन्दा हितकर नही है ।

२५ जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को छोड देता है, उसी प्रकार साधक अपने कर्मों के आवरण को उतार फेकता है ।

२६ जो दूसरो का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है, वह ससार वन मे दीर्घ काल तक भटकता रहता है ।

२७ साधक के लिए वदन और पूजन एक वहुत वडी दलदल है ।

२८ मन मे रहे हुए विकारो के सूक्ष्म शल्य को निकालना कभी-कभी वहुत कठिन हो जाता है ।

२९ समभाव उसी को रह सकता है, जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है ।

३० बुद्धिमान को कभी किसी से कलह-झगडा नही करना चाहिए । कलह से वहुत वडी हानि होती है ।

३१ अज्ञानी आत्मा पाप करके भी उस पर अहकार करता है ।

३२. अत्तहियं खु दुहेण लब्भई ।

—१।२।२।३०

३३. मरणं हेच्च वयंति पंडिया ।

—१।२।३।१

३४. अदक्खु कामाइ रोगवं ।

—१।२।३।२

३५. नाइवहइ अबले विसीयति ।

—१।२।३।५

३६. कामी कामे न कामए, लद्धे वावि अलद्ध कण्हुई ।

—१।२।३।६

३७. मा पच्छ असाधुता भवे,
अच्चेही अणुसास अप्पगं ।

—१।२।३।७

३८ न य संखयमाहु जीवियं ।

—१।२।३।१०

३९ एगस्स गती य आगती ।

—१।२।३।१७

४० सव्वे सयकम्मकप्पिया ।

—१।२।३।१८

४१ इणमेव खणं वियाणिया ।

—१।२।३।१९

४२ सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।

—१।३।१।१

४३ नातंण सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ।

—१।३।१।१६

३२ आत्महित का अवसर मुश्किल से मिलता है।

३३. प्रवुद्ध साधक ही मृत्यु की सीमा को पार कर अजर अमर होते हैं।

३४ सच्चे साधक की दृष्टि मे काम-भोग रोग के समान हैं।

३५ निर्वल व्यक्ति भार वहन करने मे असमर्थ होकर मार्ग मे ही कही खिन्न होकर वैठ जाता है।

३६ साधक सुखाभिलाषी होकर काम-भोगो की कामना न करे, प्राप्त भोगो को भी अप्राप्त जैसा कर दे, अर्थात् उपलब्ध भोगो के प्रति भी नि स्पृह रहे।

३७ भविष्य मे तुम्हे कष्ट भोगना न पडे, इसलिए अभी से अपने को विषय वासना से दूर रखकर अनुशासित करो।

३८ जीवन-सूत्र टूट जाने के वाद फिर नही जुड पाता है।

३९ आत्मा (परिवार आदि को छोड कर) परलोक मे अकेला ही गमनागमन करता है।

४० सभी प्राणी अपने कृत कर्मो के कारण नाना योनियो मे भ्रमण करते है।

४१ जो क्षण वर्तमान मे उपस्थित है, वही महत्व पूर्ण है, अत उसे सफल वनाना चाहिए।

४२ अपनी वडाई मारने वाला क्षुद्रजन तभी तक अपने को शूरवीर मानता है, जव तक कि सामने अपने से वली विजेता को नही देखता है।

४३ दुर्वल एव अज्ञानी साधक कष्ट आ पडने पर अपने स्वजनो को वैसे ही याद करता है, जैसे कि लड-झगड कर घर मे भागी हुई स्त्री गुंडो या चोरो से प्रताडित होने पर अपने घर वालो को याद करती है।

४४ तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ।

—१।३।२।२१

४५ नातिकंडूइयं सेया, अरुयस्सावरज्झति ।

—१।३।३।१३

४६ कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ।

—१।३।३। ०

४७ मा एयं अवमन्नंता, अप्पेण लुम्पहा बहुं ।

—१।३।४।७

४८ जेहिं काले परक्कंत, न पच्छा परितप्पए ।

—१।३।४।१५

४९ सीहं जहा व कुणिमेण, निब्भयमेग चरंति पासेण ।

—१।४।१।८

५० तम्हा उ वज्जए इत्थी,
विसलित्तं व कण्टगं नच्चा ।

—१।४।१।११

५१. जहा कडं कम्म, तहासि भारे ।

—१।५।१।२६

५२ एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ।

—१।५।२।२२

५३. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए ।

—१।५।२।२३

५४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं

—१।६।२३

५५ तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ।

—१।६।२३

४४ अज्ञानी साधक सकट काल मे उसी प्रकार खेदखिन्न हो जाते हैं, जिस प्रकार बूढे वैल चढाई के मार्ग मे ।

४५. घाव को अधिक खुजलाना ठीक नही, क्योकि खुजलाने से घाव अधिक फैलता है ।

४६ भिक्षु प्रसन्न व शान्त भाव से अपने रुग्ण साथी की परिचर्या करे ।

४७. सन्मार्ग का तिरस्कार करके तुम अल्प वैषयिक सुखो के लिए अनन्त मोक्षसुख का विनाश मत करो ।

४८ जो समय पर अपना कार्य कर लेते है, वे वाद मे पछताते नही ।

४९. निर्भय अकेला विचरने वाला सिंह भी मास के लोभ से जाल मे फस जाता है (वैसे ही आसक्तिवश मनुष्य भी) ।

५० ब्रह्मचारी स्त्रीससर्ग को विषलिप्त कटक के समान समझकर उससे वचता रहे ।

५१. जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग ।

५२. आत्मा अकेला ही अपने किए दु ख को भोगता है ।

५३ अतीत मे जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य मे वह उसी रूप मे उपस्थित होता है ।

५४ अभय दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

५५. तपो मे सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य ।

५६ सव्वेसु वा अणवज्जं वयति ।

—१।६।२३

५७ सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ।

—१।७।११

५८ उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा वहवे दगसि ।

—१।७।१४

५९ नो पूयण तवसा आवहेज्जा ।

—१।७।२७

६०. दुक्खेण पुट्ठे धुयमायएज्जा ।

—१।७।२९

६१ पमाय कम्ममाहसु, अप्पमाय तहावरं ।

—१।८।३

६२. आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया ।

—१।८।६

६३ पावोगहा हि आरभा, दुक्खफासा य अतसो ।

—१।८।७

६४. वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती ।

—१।८।७

६५ जहा कुम्मे सअगाइं, सए देहे समाहरे ।
एव पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

—१।८।१६

६६. सातागारव णिहुए, उवसतेऽणिहे चरे ।

—१।८।१८

६७ सादिय न मुस बूया ।

—१।८।१९

५६ सत्य वचनो मे भी अनवद्य सत्य (हिंसा-रहित सत्य वचन) श्रेष्ठ है ।

५७. प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है ।

५८. यदि जलस्पर्श (जलस्नान) से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, तो पानी मे रहने वाले अनेक जीव कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते ?

५९ तप के द्वारा पूजा प्रतिष्ठा की अभिलाषा नही करनी चाहिए ।

६०. दु ख आ जाने पर भी मन पर सयम रखना चाहिए ।

६१ प्रमाद को कर्म—आश्रव और अप्रमाद को अकर्म-सवर कहा है ।

६२ कुछ लोग लोक और परलोक—दोनो ही दृष्टियो से असयत होते हैं ।

६३ पापानुष्ठान अन्तत. दु.ख ही देते है ।

६४ वैरवृत्ति वाला व्यक्ति जब देखो तब वैर ही करता रहता है । वह एक के बाद एक किए जाने वाले वैर से वैर को बढाते रहने मे ही रस लेता है ।

६५ कछुआ जिस प्रकार अपने अगो को अन्दर मे समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियो से सुरक्षित रखे ।

६६ साधक सुख-सुविधा की भावना मे अनपेक्ष रहकर, उपशात एव दम्भ-रहित होकर विचरे ।

६७ मन मे कपट रख कर झूठ न बोलो ।

६८ अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्प भासेज्ज सुव्वए।

—१।८।२५

६९ झाणजोग समाहट्टु, काय विउसेज्ज सव्वसो।

—१।८।२६

७० तितिक्ख परम नच्चा।

—१।८।२६

७१ परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।

— १।९।३

७२ अन्ने हरंति त वित्त, कम्मी कम्मेहि किच्चती।

—१।९।४

७३ अणुचिंतिय वियागरे।

—१।९।२५

७४ जं छन्न तं न वत्तव्वं।

—१।९।२६

७५ तुम तुमति अमणुन्न, सव्वसो त न वत्तए।

—१।९।२७

७६ णातिवेलं हसे मुणी।

—१।९।२९

७७ वुच्चमाणो न संजले।

—१।९।३१

७८ सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे।

—१।९।३१

७९ लद्धे कामे न पत्थेज्जा।

—१।९।३२

८०. सव्वं जग तू समयाणुपेही,
पियमप्पिय कस्स वि नो करेज्जा।

—१।१०।६

६८ सुव्रती साधक कम खाये, कम पीये, और कम बोले ।

६९ ध्यानयोग का अवलम्बन कर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए ।

७० तितिक्षा को परम धर्म समझकर आचरण करो ।

७१ जो परिग्रह (संग्रह वृत्ति) मे व्यस्त है, वे ससार मे अपने प्रति वैर ही वढाते हैं ।

७२. यथावसर सचित धन को तो दूसरे उडा लेते हैं, और सग्रही को अपने पापकर्मो का दुष्फल भोगना पडता है ।

७३ जो कुछ वोले—पहले विचार कर वोले ।

७४ किसी की कोई गोपनीय जैसी वात हो, तो नही कहना चाहिए ।

७५ 'तू-तू'—जैसे अभद्र शव्द कभी नही वोलने चाहिए ।

७६. मर्यादा से अधिक नही हसना चाहिए ।

७७ साधक को कोई दुर्वचन कहे, तो भी वह उस पर गरम न हो, क्रोध न करे ।

७८ साधक जो भी कष्ट हो, प्रसन्न मन से सहन करे, कोलाहल न करे ।

७९ प्राप्त होने पर भी कामभोगो की अभ्यर्थना (स्वागत) न करे ।

८० समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय । अर्थात् समदर्शी अपने पराये की भेद-बुद्धि से परे होता है ।

८१ सीहं जहा खुड्डमिगा चरता,
दूरे चरती परिसंकमाणा।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं,
दूरेण पाव परिवज्जएज्जा ॥

—१।१०।२०

८२ बालजणो पगब्भई।

—१।११।२

८३ न विरुज्झेज्ज केण वि।

—१।११।१२

८४ णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति,
ण चंदिमा वड्ढति हायती वा।

—१।१२।७

८५ जहा हि अंधे सह जोतिणावि,
रूवादि णो पस्सति हीणणेत्ते।

—१।१२।८

८६. आहंसु विज्जाचरण पमोक्खं।

—१।१२।११

८७. न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।

—१।१२।१५

८८. सतोसिणो नो पकरेंति पाव।

—१।१२।१५

८९. ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।

—१।१२।१८

९० अलमप्पणो होति अलं परेसिं।

—१।१२।१९

९१. अन्न जणं पस्सति बिंबभूय।

—१।१३।८

९२. अन्न जणं खिंसइ बालपन्ने।

—१।१३।१४

८१ जिस प्रकार मृगशावक सिंह से डर कर दूर-दूर रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान धर्म को जानकर पाप से दूर रहे।

८२ अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है।

८३ किसी के भी साथ वैर विरोध न करो।

८४. वस्तुत. सूर्य न उदय होता है, न अस्त होता है। और चन्द्र भी न बढता है, न घटता है। यह सब दृष्टि भ्रम है।

८५ जिस प्रकार अन्ध पुरुष प्रकाश होते हुए भी नेत्रहीन होने के कारण रूपादि कुछ भी नही देख पाता है, इसी प्रकार प्रज्ञाहीन मनुष्य शास्त्र के समक्ष रहते हुए भी सत्य के दर्शन नही कर पाता।

८६. ज्ञान और कर्म (विद्या एव चरण) से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

८७. अज्ञानी मनुष्य कर्म (पापानुष्ठान) से कर्म का नाश नही कर पाते। किन्तु ज्ञानी धीर पुरुष अकर्म (पापानुष्ठान का निरोध) से कर्म का क्षय कर देते है।

८८ सन्तोषी साधक कभी कोई पाप नही करते।

८९ तत्वदर्शी समग्र प्राणिजगत् को अपनी आत्मा के समान देखता है।

९० ज्ञानी आत्मा ही 'स्व' और 'पर' के कल्याण मे समर्थ होता है।

९१ अभिमानी अपने अहकार मे चूर होकर दूसरो को सदा बिम्बभूत (परछाई के समान तुच्छ) मानता है।

९२ जो अपनी प्रज्ञा के अहकार मे दूसरो की अवज्ञा करता है, वह मूर्ख-बुद्धि (बालप्रज्ञ) है।

९३ जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा।

—१।१४।१

९४. कहं कहं वा वितिगिच्छतिण्णे।

—१।१४।६

९५. सूरोदए पासति चक्खुणेव।

—१।१४।१३

९६ न यावि पन्ने परिहास कुज्जा।

—१।१४।१९

९७ नो छायए नो वि य लूसएज्जा।

—१।१४।१९

९८, नो तुच्छए नो य विकत्थइज्जा।

—१।१४।२१

९९ विभज्जवायं च वियागरेज्जा।

—१।१४।२२

१००. निरुद्धगं वावि न दीहइज्जा।

—१।१४।२३

१०१ नाइवेलं वएज्जा।

—१।१४।२५

१०२ से दिट्ठिमं दिट्ठि न लूसएज्जा।

—१।१४।२५

१०३ भूएहिं न विरुज्झेज्जा।

—१।१५।४

१०४ भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।

—१।१५।५

१०५ तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।

—१।१५।६

९३. चतुर वही है जो कभी प्रमाद न करे।

९४. मुमुक्षु को जैसे-तैसे मन की विचिकित्सा से पार हो जाना चाहिए।

९५. सूर्योदय होने पर (प्रकाश होने पर) भी आँख के बिना नहीं देखा जाता है, वैसे ही स्वयं में कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, निर्देशक गुरु के अभाव में तत्वदर्शन नहीं कर पाता।

९६. बुद्धिमान किसी का उपहास नहीं करता।

९७. उपदेशक सत्य को कभी छिपाए नहीं, और न ही उसे तोड़ मरोड़ कर उपस्थित करे।

९८. साधक न किसी को तुच्छ-हल्का बताए और न किसी की झूठी प्रशंसा करे।

९९. विचारशील पुरुष सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद से युक्त वचन का प्रयोग करे।

१००. थोड़े से में कही जाने वाली बात को व्यर्थ ही लम्बी न करे।

१०१. साधक आवश्यकता से अधिक न बोले।

१०२ सम्यग्दृष्टि साधक को सत्य दृष्टि का अपलाप नहीं करना चाहिए।

१०३. किसी भी प्राणी के साथ वैर विरोध न बढ़ाएँ।

१०४. जिस साधक की अन्तरात्मा भावनायोग (निष्काम साधना) से शुद्ध है, वह जल मे नौका के समान है, अर्थात् वह संसार सागर को तैर जाता है, उसमें डूबता नहीं है।

१०५. जो नये कर्मो का बन्धन नहीं करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

१०६. अकुव्वओ णव णत्थि ।

—१।१५ ७

१०७ अणुसासण पुढो पाणी ।

—१।:५।११

१०८ से हु चक्खू मणुस्साण, जे कखाए य अन्तए ।

—१।१५।१४

१०६ इओ विद्ध समाणस्स पुणो संवोही दुल्लभा ।

—१।१५। .८

११० अन्नो जीवो, अन्न सरीर ।

—२।१।६

१११ अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि ।

—२।१।१३

११२. अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयति ।

—२।१।१३

११३. पत्तेय जायति पत्तेय मरइ ।

—२।१।१३

११४ णो अन्नस्स हेउ धम्ममाइक्खेज्जा,
णो पाणस्स हेउ धम्ममाइक्खेजा ।

—२।१।१५

११५ अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा,
कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेजा ।

—२।१।१५

११६. सारदसलिल व सुद्ध हियया, . .
विहग इव विप्पमुक्का,
वसु धरा इव सव्व फासविसहा ।

—२ २।३८

११७ धम्मेण चेव वित्ति कप्पेमाणा विहरति ।

—२।२।३६

११८ अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु ।

—२।३।११

●

१०६. जो अन्दर मे राग-द्वेष रूप-भाव कर्म नही करता, उसे नए कर्म का बंध नही होता।

१०७ एक ही धर्मतत्त्व को प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप मे ग्रहण करता है।

१०८ जिसने कांक्षा—आसक्ति का अन्त कर दिया है, वह मनुष्यो के लिए पथप्रदर्शक चक्षु है।

१०९ जो अज्ञान के कारण अब पथभ्रष्ट हो गया है, उसे फिर भविष्य मे संबोधि मिलना कठिन है।

११० आत्मा और है, शरीर और है।

१११ शब्द, रूप आदि काम भोग (जडपदार्थ) और है, मैं (आत्मा) और हूँ।

११२ कोई किसी दूसरे के दु ख को बटा नही सकता।

११३. हर प्राणी अकेला जन्म लेता है, अकेला मरता है।

११४ खाने पीने की लालसा से किसी को धर्म का उपदेश नही करना चाहिए।

११५. साधक बिना किसी भौतिक इच्छा के प्रशातभाव से एक मात्र कर्म-निर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करे।

११६ मुनि जनो का हृदय शरदकालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। वे पक्षी की तरह बन्धनो से विप्रमुक्त और पृथ्वी की तरह समस्त सुख-दु खो को समभाव से सहन करने वाले होते हैं।

११७ सद्गृहस्थ धर्मानुकूल ही आजीविका करते हैं।

११८. नही देखने वालो! तुम देखने वालो की बात पर विश्वास करके चलो।

●

स्थानांग की सूक्तियां

●

१. एगे मरणे अंतिमसारीरियाण ।

—१।१।३६

२. एगा अहम्मपडिमा, जं से आया परिकिलेसति ।

—१।१।३८

३ एगा धम्मपडिमा, ज से आया पज्जवजाए ।

—१।१।४०

४ जदत्थि ण लोगे, त सव्व दुपओआरं ।

—२।१

५ दुविहे धम्मे-सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव ।

—२।१

६ दुविहे वधे-पेज्जवंधे चेव दोसवंधे चेव ।

—२।४

७. किंभया पाणा ?
दुक्खभया पाणा ।
दुक्खे केण कडे ?
जीवेणं कडे पमाएण ।

—३।२

स्थानांग की सूक्तियां

●

१ मुक्त होने वाली आत्माओ का वर्तमान अन्तिम देह का मरण ही—एक मरण होता है, और नही।

२ एक अधर्म ही ऐसी विकृति है, जिससे आत्मा क्लेश पाता है।

३ एक धर्म ही ऐसा पवित्र अनुष्ठान है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है।

४ विश्व मे जो कुछ भी है, वह इन दो शब्दो मे समाया हुआ है—चेतन और जड़।

५ धर्म के दो रूप हैं—श्रुत धर्म=तत्त्वज्ञान, और चारित्र धर्म—नैतिक आचार।

६ बन्धन के दो प्रकार है—प्रेम का बन्धन, और द्वेप का बन्धन।

७ प्राणी किससे भय पाते हैं ?
दु ख से।
दु ख किसने किया है ?
स्वय आत्मा ने, अपनी ही भूल से।

८. तओ ठाणाइ देवे पीहेज्जा
माणुस भवं, आरिए खेत्त जम्मं, सुकुलपच्चायातिं।

—३।३

९ तओ दुस्सन्नप्पा—दुट्ठे, मूढे, वुग्गाहिते।

—३।४

१०. चत्तारि सुता—
अतिजाते, अणुजाते,
अवजाते, कुलिंगाले।

—४।१

११. चत्तारि फला—
आमे णाम एगे आममहुरे।
आमे णाम एगे पक्कमहुरे।
पक्के णाम एगे आममहुरे।
पक्के णाम एगे पक्कमहुरे।

—४।१

१२. आवायभद्दए णाम एगे णो सवासभद्दए।
सवासभद्दए णामं एगे णो आवायभद्दए।
एगे आवायभद्दए वि, सवासभद्दए वि।
एगे णो आवायभद्दए, णो सवासभद्दए।

—४।१

१३ अप्पणो णामं एगे वज्जं पासइ, णो परस्स।
परस्स णाम एगे वज्ज पासइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि।
एगे णो अप्पणो वज्ज पासइ, णो परस्स।

—४।१

१४. दीणे णामं एगे णो दीणमणे।
दीणे णाम एगे णो दीणसंकप्पे।

—४।२

८ देवता भी तीन बातो की इच्छा करते रहते है—
मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र मे जन्म, और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति ।

९ दुष्ट को, मूर्ख को, और बहके हुए को प्रतिबोध देना—समझा पाना बहुत कठिन है ।

१० कुछ पुत्र गुणो की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते है । कुछ पिता के समान होते हैं और कुछ पिता से हीन । कुछ पुत्र कुल का सर्वनाश करने वाले—कुलागार होते हैं ।

११ कुछ फल कच्चे होकर भी थोडे मधुर होते है ।
कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं ।
कुछ फल पके होकर भी थोडे मधुर होते हैं ।
और कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते हैं ।
फल की तरह मनुष्य के भी चार प्रकार होते हैं—
लघुवय मे साधारण समझदार । लघुवय मे बडी उम्रवालो की तरह समझदार । बडी उम्र मे भी कम समझदार । बडी उम्र मे पूर्ण समझदार ।

१२ कुछ व्यक्तियो की मुलाकत अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नही होता ।
कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नही ।
कुछ एक की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी ।
कुछ एक का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही ।

१३ कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरो का नही ।
कुछ दूसरो का दोष देखते हैं, अपना नही ।
कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरो का भी ।
कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरो का ।

१४ कुछ व्यक्ति शरीर व धन आदि से दीन होते हैं । किन्तु उनका मन और सकल्प बडा उदार होता है ।

१५ चउव्विहे सजमे—
मणसंजमे, वइसंजमे, कायसजमे, उवगरणसजमे ।

—४।२

१६ पव्वयराइसमाण कोह अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

—४।२

१७ सेलथभसमाण माण अणपविट्ठे जीवे
काल करेइ णेरइएसु उववज्जति ।

—४।२

१८ वसीमूलकेतणासमाण मायं अणुपविट्ठे जीवे
काल करेइ णेरइएसु उवज्जति ।

—४।२

१९ किमिरागरत्तवत्थसमाण लोभ अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ नेरइएसु उववज्जति ।

—४।२

२० इह लोगे सुचिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति ।
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ।

—४।२।

२१ चत्तारि पुप्फा—
रूवसपन्ने णामं एगे णो गधसपन्ने ।
गधसपन्ने णामं एगे नो रूवसपन्ने ।
एगे रूवसंपन्ने वि गंधसपन्ने वि ।
एगे णो रूवसपन्ने णो गधसपन्ने ।
एवामेव चत्तारि पुरिसजाया ।

—४।३

२२. अट्ठकरे णामं एगे णो माणकरे ।
माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे ।
एगे अट्ठ करे वि माणकरे वि ।
एगे णो अट्ठ करे, णो माणकरे ।

—४।३

१५ सयम के चार रूप हैं—मन का संयम, वचन का सयम, शरीर का सयम और उपधि—सामग्री का सयम।

१६. पर्वत की दरार के समान जीवन मे कभी नही मिटने वाला उग्र क्रोध आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१७ पत्थर के खभे के समान जीवन मे कभी नही झुकने वाला अहकार आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१८ बास की जड के समान अतिनिविड—गाठदार दभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

१९ कृमिराग अर्थात मजीठ के रग के समान जीवन मे कभी नही छूटने वाला लोभ आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

२० इस जीवन मे किए हुए सत् कर्म इस जीवन मे भी सुखदायी होते हैं।
इस जीवन मे किए हुए सत्कर्म अगले जीवन मे भी सुखदायी होते है।

२१ फूल चार तरह के होते है—
सुन्दर, किन्तु गधहीन।
गधयुक्त, किंतु सौन्दर्यहीन।
सुन्दर भी, सुगधित भी।
न सुन्दर, न गधयुक्त।
फूल के समान मनुष्य भी चार तरह के होते है।
[भौतिक सपत्ति सौन्दर्य है तो आध्यात्मिक सम्पत्ति सुगन्ध है।]

२२ कुछ व्यक्ति सेवा आदि महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, किंतु उसका अभिमान नही करते।
कुछ अभिमान करते हैं, किंतु कार्य नही करते।
कुछ कार्य भी करते हैं, अभिमान भी करते हैं।
कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान ही करते हैं।

२३ चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसितपाहुडे, माई।

—४।३

२४ सीहत्ताते णाम एगे णिक्खते सीहत्ताते विहरइ।
सीहत्ताते णाम एगे णिक्खते सियालत्ताए विहरइ।
सीयालत्ताए णाम एगे णिक्खंते सीहत्ताए विहरइ।
सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ।

—४।३

२५ सएण लाभेणं तुस्सइ
परस्स लाभं णो आसाएइ.
दोच्चा सुहसेज्जा।

—४।३

२६ चत्तारि समणोवासगा—
अद्दागसमाणे, पडागसमाणे।
खाणुसमाणे, खरकटसमाणे।

—४।३

२७. अप्पणो णाम एगे पत्तिय करेइ, णो परस्स।
परस्स णामं एगे पत्तिय करेइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्सवि।
एगे णो अप्पणो पत्तिय करेइ; णो परस्स।

—४।३

२८ तमे णामं एगे जोई
जोई णाम एगे तमे।

— ४।३

२९. गज्जित्ता णाम एगे णो वासित्ता।
वासित्ता णाम एगे णो गज्जित्ता।

२३. चार व्यक्ति शास्त्राध्ययन के योग्य नही हैं—
अविनीत, चटोरा, झगडालू और धूर्त ।

२४ कुछ साधक सिंह वृत्ति से साधना पथ पर आते हैं, और सिंहवृत्ति से ही रहते हैं ।
कुछ सिंह वृत्ति से आते हैं किंतु बाद मे शृगाल वृत्ति अपना लेते हैं ।
कुछ शृगाल वृत्ति से आते हैं, किंतु बाद मे सिंह वृत्ति अपना लेते हैं ।
कुछ शृगाल वृत्ति लिए आते हैं और शृगाल वृत्ति से ही चलते रहते हैं ।

२५ जो अपने प्राप्त हुए लाभ मे सतुष्ट रहता है, और दूसरो के लाभ की इच्छा नही रखता, वह सुखपूर्वक सोता है (यह सुख-शय्या का दूसरा पहलू है)

२६ श्रमणोपासक की चार कोटियां है—
दर्पण के समान—स्वच्छ हृदय ।
पताका के समान—अस्थिर हृदय ।
स्थाणु के समान—मिथ्याग्रही ।
तीक्ष्ण कटक के समान—कटुभाषी ।

२७ कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरो का नही ।
कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे विना भी दूसरो का भला करते हैं ।
कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरो का भी ।
और कुछ न अपना भला करते हैं और न दूसरो का ।

२८ कभी-कभी अन्धकार (अज्ञानी मनुष्य मे) मे से भी ज्योति (सदाचार का प्रकाश) जल उठती है ।
और कभी कभी ज्योति पर (ज्ञानी हृदय पर) भी अन्धकार (दुराचार) हावी हो जाता है ।

२९. मेघ की तरह दानी भी चार प्रकार के होते हैं—
कुछ बोलते है, देते नही ।
कुछ देते हैं, किंतु कभी बोलते नही ।

एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता ।

—४।४

३० चउहिं ठाणेहिं सते गुणे नासेज्जा—
कोहेण, पडिनिवेसेण,
अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिणिवेसेणं ।

—४।४

३१. चत्तारि धम्मदारा—
खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे ।

—४।४

३२ देवे णाममेगे देवीए सद्धिं सवास गच्छति ।
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं सवासं गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धिं सवास गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धिं संवासं गच्छति ।

— ४।४

३३ चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणियत्ताए कम्म पगरेति—
माइल्लयाए, नियडिल्लयाए ।
अलियवयणेण, कूडतुला कूडमाणेण ।

—४।४

३४ चउहिं ठाणेहिं जीवा माणुसत्ताए कम्म पगरेंति—
पगइ भद्दयाए, पगइ विणीययाए,
साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए ।

—४।४

३५ मधुकु भे नाम एगे मधुपिहाणे, ।
मधुकु भे नाम एगे विसपिहाणे ।
विसकु भे नाम एगे मधुपिहाणे ।
विसकु भे नाम एगे विसपिहाणे ।

—४।४

कुछ बोलते भी हैं, और देते भी हैं।
और कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

३० क्रोध, ईर्ष्या-डाह, अकृतज्ञता और मिथ्या आग्रह—इन चार दुर्गुणो के कारण मनुष्य के विद्यमान गुण भी नष्ट हो जाते हैं।

३१. क्षमा, सतोष, सरलता और नम्रता—ये चार धर्म के द्वार है।

३२ चार प्रकार के सहवास हैं—
देव का देवी के साथ—शिष्ट भद्र पुरुष, सुशीला भद्र नारी।
देव का राक्षसी के साथ—शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी,
राक्षस का देवी के साथ—दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी,
राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।

३३ कपट, धूर्तता, असत्य वचन और कूट तुलामान (खोटे तोल माप करना) —ये चार प्रकार के व्यवहार पशुकर्म हैं, इनसे आत्मा पशुयोनि (तिर्यच-गति) मे जाता है—

३४ सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता—ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म हैं, इनसे आत्मा मानव जन्म प्राप्त करता है।

३५ चार तरह के घडे होते है—
मधु का घड़ा, मधु का ढक्कन।
मधु का घडा, विष का ढक्कन।
विष का घडा, मधु का ढक्कन।
विष का घड़ा, विष का ढक्कन।
[मानव पक्ष मे हृदय घट है और वचन ढक्कन]

३६ हिययमपावमकलुसं, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्च ।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे ॥

—४।४

३७. हिययमपावमकलुस, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं ।
जंमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे विसपिहाणे ॥

—४।४

३८ जं हियय कलुसमय, जीहावि य मधुरभासिणी णिच्चं ।
जमि पुरिसमि विज्जति, से विसकुंभे महुपिहाणे ॥

—४।४

३९ ज हिययं कलुसमयं, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्चं ।
जमि पुरिसमि विज्जति, से विसकुंभे विसपिहाणे ॥

—४।४

४० समुद्द तरामीतेगे समुद्द तरइ ।
समुद्द तरामीतेगे गोप्पय तरइ ।
गोप्पय तरामीतेगे समुद्द तरइ ।
गोप्पय तरामीतेगे गोप्पय तरइ ।

—४।४

४१ सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ।

—६।१

४२. इमाइं छ अवयणाइ वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसित वयणे,
फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसवित वा पुणो उदीरित्तए ।

—६।३

४३. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमथू ।

—६।३

३६. जिसका अन्तर, हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह मनुष्य मधु के घडे पर मधु के ढक्कन के समान है ।

३७ जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है, किन्तु वाणी से कटु एव कठोर-भाषी है, वह मनुष्य मधु के घडे पर विष के ढक्कन के समान है ।

३८. जिसका हृदय कलुषित और दभ युक्त है, किंतु वाणी से मीठा बोलता है, वह मनुष्य विष के घडे पर मधु के ढक्कन के समान है ।

३९ जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदा कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घड़े पर विष के ढक्कन के समान है ।

४० कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् सकल्प करते हैं, और समुद्र तैरने जैसा ही महान् कार्य भी करते हैं ।
कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् सकल्प करते है, किंतु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं ।
कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र सकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं । कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र सकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं ।

४१. भगवान ने सर्वत्र निष्कामता (अनिदानता) को श्रेष्ठ बताया है ।

४२. छह तरह के वचन नही बोलने चाहिएँ—
असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिडकते हुए वचन, कठोर वचन, साधारण मनुष्यो की तरह अविचारपूर्ण वचन और शान्त हुए कलह को फिर से भडकाने वाले वचन ।

४३ वाचालता सत्य वचन का विघात करती है ।

४४ इच्छालोभिते मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू।

—६।३

४५ सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढ सुसमं जाणेज्जा—
अकाले न वरिसइ, काले वरिसइ,
असाधू ण पुज्जंति, साधू पुज्जति,
गुरुहिं जणो सम्म पडिवन्नो,
मणो सुहता, वइ सुहता।

—७

४६ एगमवि मायी मायं कट्टु आलोएज्जा जाव पडिवज्जेजा
अत्थि तस्स आराहणा।

—८

४७ असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए
अब्भुट्ठेयव्व भवति।

—८

४८ सुयाणं धम्माण ओगिण्हणयाए उवधारणयाए
अब्भुट्ठेयव्व भवति।

—८

४९ असगिहीयपरिजणस्स सगिण्हणयाए
अब्भुट्ठेयव्व भवति।

—८

५०. गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए
अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

—८

५१. णो पाणभोयणस्स अतिमत्ता आहारए सया भवई।

—९

५२. नो सिलोगाणुवाई,
नो मातसोक्खपडिवद्धे यावि भवइ।

—९

४४. लोभ मुक्तिमार्ग का बाधक है ।

४५ इन सात बातो से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है—
असमय पर न बरसना, समय पर बरसना,
असाधुजनो का महत्व न बढना, साधुजनो का महत्व बढना,
माता पिता आदि गुरुजनो के प्रति सद्व्यवहार होना,
मन की शुभता, और वचन की शुभता ।

४६ जो प्रमादवश हुए कपटाचरण के प्रति पश्चात्ताप (आलोचना) करके सरलहृदय हो जाता है, वह धर्म का आराधक है ।

४७. अभी तक नही सुने हुए धर्म को सुनने के लिए तत्पर रहना चाहिए ।

४८ सुने हुए धर्म को ग्रहण करने—उस पर आचरण करने को तत्पर रहना चाहिए ।

४९. जो अनाश्रित एव असहाय हैं, उनको सहयोग तथा आश्रय देने मे सदा तत्पर रहना चाहिए ।

५०. रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।

५१. ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा मे भोजन नही करना चाहिए ।

५२. साधक कभी भी यश, प्रशसा और दैहिक सुखो के पीछे पागल न बने ।

५३ नवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया—
अच्चासणाए,
अहियासणाए,
अइनिद्दाए,
अइजागरिएण,
उच्चारनिरोहेण,
पासवणनिरोहेण,
अद्धाणगमणेण,
भोयणपडिकूलयाए,
इंदियत्थ-विकोवणयाए ।

—९

५४. ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सति वा
जं जीवा अजीवा भविस्सति,
अजीवा वा जीवा भविस्सति ।

—१०

५३ रोग होने के नौ कारण हैं—
अति भोजन,
अहित भोजन,
अतिनिद्रा,
अति जागरण,
मल के वेग को रोकना,
मूत्र के वेग को रोकना,
अधिक भ्रमण करना,
प्रकृति के विरुद्ध भोजन करना,
अति विषय सेवन करना,

५४ न ऐसा कभी हुआ है, न होता है और न कभी होगा ही कि जो चेतन हैं, वे कभी अचेतन—जड हो जाएँ, और जो जड-अचेतन हैं, वे चेतन हो जाएँ ।

भगवती सूत्र की सूक्तियां

१ जे ते अप्पमत्तसजया ते ण
नो आयारंभा, नो परारभा, जाव—अणारंभा ।

—१।१

२. इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे,
तदुभयभविए वि नाणे ।

—१।१

३ अत्थित्त अत्थित्ते परिणमइ,
नत्थित्त नत्थित्ते परिणमइ ।

—१।३

४ अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ,
अप्पणा चेव संवरइ ।

—१।३

५ अजीवा जीवपइट्ठिया,
जीवा कम्मपइट्ठिया ।

—१।६

६ स वीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति ।

—१।८

भगवती सूत्र की सूक्तियां

●

१ आत्मसाधना मे अप्रमत्त रहने वाले साधक न अपनी हिंसा करते है, न दूसरो की, वे सर्वथा अनारम्भ—अहिंसक रहते हैं।

२. ज्ञान का प्रकाश इस जन्म मे रहता है, पर जन्म मे रहता है, और कभी दोनो जन्मो मे भी रहता है।

३ अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है, अर्थात् सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदा असत्।

४ आत्मा स्वयं अपने द्वारा ही कर्मों की उदीरणा करता है, स्वय अपने द्वारा ही उनकी गर्हा—आलोचना करता है, और अपने द्वारा ही कर्मों का सवर—आश्रव का निरोध करता है।

५ अजीव-जड पदार्थ जीव के आधार पर रहे हुए हैं, और जीव (ससारी प्राणी) कर्म के आधार पर रहे हुए हैं।

६ शक्तिशाली (वीर्यवान्) जीतता है और शक्तिहीन (निर्वीर्य) पराजित हो जाता है।

७ आया णे अज्जो ! सामाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।

—१।९

८ गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे ।

—१।९

९ अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ।

—१।९

१० करणओ सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा ।

—१।१०

११ सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हये तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

—२।५

१२ जीवा णो वड्ढति, णो हायति, अवट्ठिया ।

—५।८

१३. नेरइयाण णो उज्जोए, अंधयारे ।

—५।९

१४. जीवे ताव नियमा जीवे,
जीवे वि नियमा जीवे ।

—६।१०

१५ समाहिकारए ण तमेव समाहिं पडिलब्भइ ।

—७।१

१६. दुक्खी दुक्खेणं फुडे,
नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे ।

—७।१

७ हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक (ममत्वभाव) है, और आत्मा ही मामा-यिक का अर्थ (विशुद्धि) है ।
(इस प्रकार गुण गुणी मे भेद नही, अभेद है ।)

८ गर्हा (आत्मालोचन) सयम है, अगर्हा सयम नहीं है ।

६ अस्थिर बदलता है, स्थिर नहीं बदलता ।
अस्थिर टूट जाता है, स्थिर नही टूटता ।

१० कोई भी क्रिया किए जाने पर ही सुख दु ख का हेतु होती है, न किए जाने पर नही ।

११ सत्सग से धर्मश्रवण, धर्मश्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से विज्ञान=विशिष्ट तत्त्वबोध, विज्ञान से प्रत्याख्यान – सासारिक पदार्थो से विरक्ति, प्रत्याख्यान से सयम, सयम से अनाश्रव=नवीन कर्म का अभाव, अनाश्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मो का नाश, पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता=सर्वथा कर्मरहित स्थिति और निष्कर्मता से सिद्धि—अर्थात् मुक्त-स्थिति प्राप्त होती है ।

१२ जीव न बढते हैं, न घटते हैं, किन्तु सदा अवस्थित रहते हैं ।

१३ नारक जीवो को प्रकाश नही, अधकार ही रहता है ।

१४ जो जीव है वह निश्चित रूप से चैतन्य है,
और जो चैतन्य है वह निश्चित रूप से जीव है ।

१५. समाधि (सुख) देने वाला समाधि पाता है ।

१६ जो दु खित=कर्मबद्ध है, वही दु ख=बन्धन को पाता है,
जो दु खित=बद्ध नही है, वह दु ख=बन्धन को नही पाता ।

१७ अहासुत्त रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ।
उस्सुत्त रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ।

—७।१

१८ जीवा सिय सासया, सिय असासया।
दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।

—७।२

१९ भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे
महापज्जवसाणे भवइ।

—७।७

२० हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे।

—७।८

२१. जीवियास-मरण-भयविप्पमुक्का।

—८।७

२२ एगं अन्नयर तस पाण हणमाणे
अणेगे जीवे हणइ।

—९।३४

२३ एग इसिं हणमाणे अणते जीवे हणइ।

—९।३४

२४. अत्थेगइयाण जीवाण सुत्तात्त साहू,
अत्थेगइयाण जीवाण जागरियत्त साहू।

—१२।२

२५. अत्थेगइयाणं जीवाण बलियत्त साहू,
अत्थेगइयाण जीवाण दुब्बलियत्त साहू।

—१२।२

२६. नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे,
जत्थ ण अय जीवे न जाए वा, न मए वा वि।

—१२।७

१७ सिद्धान्तानुकूल प्रवृत्ति करने वाला साधक ऐर्यापथिक (अल्पकालिक) क्रिया का बंध करता है। सिद्धान्त के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला सांपरायिक (चिरकालिक) क्रिया का बंध करता है।

१८. जीव शाश्वत भी हैं, अशाश्वत भी।
द्रव्यदृष्टि (मूल स्वरूप) से शाश्वत हैं, तथा भावदृष्टि (मनुष्यादि पर्याय) से अशाश्वत।

१९ भोग-समर्थ होते हुए भी जो भोगों का परित्याग करता है वह कर्मों की महान् निर्जरा करता है, उसे मुक्तिरूप महाफल प्राप्त होता है।

२० आत्मा की दृष्टि से हाथी और कुंथुआ—दोनों में आत्मा एक समान है।

२१ सच्चे साधक जीवन की आशा और मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त होते हैं।

२२. एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ आत्मा तत्संबंधित अनेक जीवों की हिंसा करता है।

२३ एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनंत जीवों की हिंसा करने वाला होता है।

२४. अधार्मिक आत्माओं का सोते रहना अच्छा है और धर्मनिष्ठ आत्माओं का जागते रहना।

२५ धर्मनिष्ठ आत्माओं का बलवान होना अच्छा है और धर्महीन आत्माओं का दुर्बल रहना।

२६ इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।

२७ मायी विउव्वइ, नो अमायी विउव्वइ।

—१३।६

२८ जीवाण चेयकडा कम्मा कज्जति,
नो अचेयकडा कम्मा कज्जति।

—१६।२

२९ नेरइया सुत्ता, नो जागरा।

—१६।६

३०. अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे।

—१७।५

३१. ज मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणा—
ऽवस्सयमादीएसु जोगेसु जयणा, से त्ता जत्ता।

—१८।१०

२७ जिसके अन्तर मे माया का अश है, वही विकुर्वणा (नाना रूपो का प्रदर्शन) करता है। अमायी—(सरल आत्मा वाला) नही करता।

२८ आत्माओ के कर्म चेतनाकृत होते हैं, अचेतना कृत नही।

२९ आत्मजागरण की दृष्टि से नारक जीव सुप्त रहते हैं, जागते नही।

३० आत्मा का दु ख स्वकृत है, अपना किया हुआ है, परकृत अर्थात् किसी अन्य का किया हुआ नही है।

३१. तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगो मे जो यतना-विवेक युक्त प्रवृत्ति है, वही मेरी वास्तविक यात्रा है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियां

●

१. अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणन्ति ।

—१।१

२ कुद्धा हणति, लुद्धा हणति, मुद्धा हणति ।

—१।१

३ न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो ।

—१।१

४ पाणवहो चडो, रुद्दो, खुद्दो, अणारियो,
निग्घिणो, निससो, महब्भयो.. ।

—१।१

५ अलियवयण.
अयसकर, वेरकरग,. मणसकिलेसवियरण ।

—१।२

६ सरीर सादिय सनिघण ।

—१।२

७, असतगुणुदीरका य सतगुणनासका य ।

—१।२

प्रश्नव्याकरण सूत्र की सूक्तियां

●

१. कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं, और कुछ लोग विना प्रयोजन भी हिंसा करते हैं।

२ कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते है, और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते हैं।

३. हिंसा के कटुफल को भोगे विना छुटकारा नही है।

४. प्राणवध (हिंसा) चण्ड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणारहित है, क्रूर है, और महाभयकर है।

५ असत्य वचन बोलने से बदनामी होती है, परस्पर वैर बढता है, और मन मे संक्लेश की वृद्धि होती है।

६ शरीर का आदि भी है, और अन्त भी है।

७ असत्यभाषी लोग गुणहीन के लिए गुणो का वखान करते है, और गुणी के वास्तविक गुणो का अपलाप करते हैं।

८ अदत्तादाण अकित्तिकरण, अणज्जं . सया साहुगरहणिज्जं ।

—२।३

९ उवणमंति मरणधम्मं अवित्तत्ता कामाणं ।

—२।४

१० इहलोए ताव नट्ठा, परलोए वि य नट्ठा ।

—२।४

११ लोभ-कलि-कसाय-महक्खंधो,
चिंतासयनिचियविपुलसालो ।

—२।५

१२ देवा वि सइंदगा न तित्तिं न तुट्ठिं उवलभंति ।

—२।५

१३ नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि
सव्वजीवाणं सव्वलोए ।

—२।५

१४. अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी ।

—२।१

१५ सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निंदियव्वा ।

—२।१

१६ न कया वि मणेण पावएण पावगं किंचिवि झायव्वं ।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्वं ।

—२।१

१७ भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं ।

—२।१

१८ सच्चं पभासकं भवति सव्वभावाणं ।

—२।२

१९ तं सच्चं भगवं ।

—२।२

८. अदत्तादान (चोरी) अपयश करने वाला अनार्य कर्म है। यह सभी भले आदमियो द्वारा सदैव निंदनीय है।

९ अच्छे मे अच्छे सुखोपभोग करने वाले देवता और चक्रवर्ती आदि भी अन्त मे काम भोगो से अतृप्त ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

१० विषयासक्त इस लोक मे भी नष्ट होते हैं और पर लोक मे भी।

११ परिग्रह रूप वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय। चिंता रूपी सैकडो ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ है।

१२. देवता और इन्द्र भी न (भोगो से) कभी तृप्त होते हैं और न सन्तुष्ट।

१३ समूचे संसार मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा कोई जाल एव बन्धन नही है।

१४ अहिंसा, त्रस और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियो का कुशल क्षेम करने वाली है।

१५ विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए, और न निन्दा।

१६. मन से कभी भी बुरा नही सोचना चाहिए।
वचन से कभी भी बुरा नही बोलना चाहिए।

१७ जैसे भयाक्रान्त के लिए शरण की प्राप्ति हितकर है, प्राणियो के लिए वैसे ही, अपितु इस मे भी विशिष्टतर भगवती अहिंसा हितकर है।

१८ सत्य—समस्त भावो-विषयो का प्रकाश करने वाला है।

१९ सत्य ही भगवान् है।

२०. सच्चं....लोगम्मि सारभूय,
....गंभीरतरं महासमुद्दाओ ।

—२।२

२१ सच्चं....सोमतरं चंदमंडलाओ,
दित्ततर सूरमडलाओ ।

—२।२

२२ सच्चं च हियं च मियं च गाहण च ।

—२।२

२३ सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारक किंचि वि न वत्तव्व।

—२।२

२४ अप्पणो थवणा, परेसु निंदा ।

—२।२

२५ कुद्धो सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज ।

—२।२

२६ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं ।

—२।२

२७. ण भाइयव्वं, भीत खु भया अइंति लहुय ।

—२।२

२८ भीतो अबितिज्जओ मणुस्सो ।

—२।२

२९ भीतो भूतेहिं घिप्पइ ।

—२।२

३० भीतो अन्न पि हु भेसेज्जा ।

—२।२

३१ भीतो तवसजम पि हु मुएज्जा ।
भीतो य भरं न नित्थरेज्जा।

—२।२

२० ससार मे 'सत्य' ही सारभूत है।
सत्य महासमुद्र से भी अधिक गभीर है।

२१ सत्य, चंद्र मडल से भी अधिक सौम्य है।
सूर्यमण्डल मे भी अधिक तेजस्वी है।

२२. ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए जो हित, मित और ग्राह्य हो।

२३ सत्य भी यदि सयम का घातक हो तो, नही बोलना चाहिए।

२४ अपनी प्रशसा और दूसरो की निन्दा भी असत्य के ही समकक्ष है।

२५ क्रोध मे अधा हुआ व्यक्ति सत्य, शील और विनय का नाश कर डालता है।

२६. मनुष्य लोभग्रस्त होकर झूठ बोलता है।

२७ भय से डरना नही चाहिए। भयभीत मनुष्य के पास भय शीघ्र आते है।

२८. भयभीत मनुष्य किसी का सहायक नही हो सकता।

२९ भयाकुल व्यक्ति ही भूतो का शिकार होता है।

३०. स्वयं डरा हुआ व्यक्ति दूसरो को भी डरा देता है।

३१. भयभीत व्यक्ति तप और सयम की साधना छोड बैठता है।
भयभीत किसी भी गुरुतर दायित्व को नही निभा सकता है।

३२. न भाइयव्वं भयस्स वा, वाहिस्स वा,
रोगस्स वा, जराएवा, मच्चुस्स वा ।

—२।२

३३ असविभागी, असंगहरुई . अप्पमाणभोई .
से तारिसए नाराहए वयमिण ।

—२ ३

३४ सविभागसीले सगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिण ।

—२।३

३५ अणुन्नविय गेण्हियव्व ।

—२।३

३६ अपरिग्गहसवुडेण लोगमि विहरियव्व ।

—२।३

३७. एगे चरेज्ज धम्म ।

—२।३

३८ विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो ।

—२।३

३९ वंभचेर उत्तमतव-नियम-णाण-दसण-
चरित्त-सम्मत्त-विणयमूल ।

—२।४

४०. जंमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व भग्ग .
जमि य आराहियंमि आराहिय वयमिण सव्व.. ।

—२।४

४१ अणेगा गुणा अहीणा भवति एक्कमि वंभचेरे।

—२।४

३२ आकस्मिक भय से, व्याधि (मन्दघातक कुष्ठादि रोग) से, रोग(शीघ्र-घातक हैंजा आदि) मे, बुढापे मे. और तो क्या, मृत्यु से भी कभी डरना नही चाहिए।

३३ जो असविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण नही करता है, असग्रहरुचि है—साथियो के लिए समय पर उचित सामग्री का सग्रह कर रखने मे रुचि नही रखता हैं, अप्रमाण भोजी है—मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला पेटू हैं, वह अस्तेयव्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता ।

३४ जो सविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण करता है, सग्रह और उपग्रह मे कुशल है—साथियो के लिए यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने मे दक्ष है, वही अस्तेयव्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है।

३५ दूसरे की कोई भी चीज हो, आज्ञा लेकर ग्रहण करनी चाहिए।

३६ अपने को अपरिग्रह भावना से सवृत कर लोक मे विचरण करना चाहिए।

३७ भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए।

३८. विनय स्वय एक तप है, और वह आभ्यतर तप होने से श्रेष्ठ धर्म है।

३६. ब्रह्मचर्य—उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

४०. एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते है।

४१. एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वय प्राप्त (अधीन) हो जाते है।

४२ दाणाण चेव अभयदाणं ।

—२।४

४३ स एव भिक्खू, जो सुद्ध चरति वंभचेरं ।

—२।४

४४ तहा भोत्तव्व जहा से जाया माता य भवति,
न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स ।

—२।४

४५. समे य जे सव्वपाणभूतेसु, से हु समणे ।

—२।५

४६. पोक्खरपत्त व निरुवलेवे ...
आगासं चेव निरवलवे ।

—२।५

४२ सब दानो मे 'अभयदान' श्रेष्ठ है ।

४३. जो शुद्ध भाव से ब्रह्मचर्य पालन करता है, वस्तुत वही भिक्षु है ।

४४ ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए, जो जीवनयात्रा एव संयमयात्रा के लिये उपयोगी हो सके, और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो, और न धर्म की भ्र सना ।

४५. जो समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखता है, वस्तुत वही श्रमण है ।

४६. साधक को कमलपत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिये ।

दशवैकालिक की सूक्तियां

•

१ धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो ।
देवा वि त नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

—१।१

२ विहगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ।

—१।३

३ वय च वित्ति लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।

—१।४

४. महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।

—१।५

५ कहं नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए ।

—२।१

६ अच्छंदा जे न भुजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ।

—२।२

७ जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

—२।३

दशवैकालिक की सूक्तियां

●

१ धर्म श्रेष्ठ मगल है। अहिसा, सयम और तप—धर्म के तीन रूप हैं। जिसका मन—(विश्वास) धर्म मे स्थिर है, उसे देवता भी नमस्कार करते है।

२ श्रमण—भिक्षु गृहस्थ से उसी प्रकार दानस्वरूप भिक्षा आदि ले, जिस प्रकार कि भ्रमर पुष्पो से रस लेता है।

३ हम जीवनोपयोगी आवश्यकताओ की इस प्रकार पूर्ति करें कि किसी को कुछ कष्ट न हो।

४ आत्मद्रष्टा साधक मधुकर के समान होते हैं, वे कही किसी एक व्यक्ति या वस्तु पर प्रतिबद्ध नही होते। जहाँ रस (गुण) मिलता है, वही से ग्रहण कर लेते हैं।

५ वह साधना कैसे कर पाएगा, जो कि अपनी कामनाओ—इच्छाओ को रोक नही पाता ?

६. जो पराधीनता के कारण विषयो का उपभोग नही कर पाते, उन्हे त्यागी नही कहा जा सकता।

७. जो मनोहर और प्रिय भोगो के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हे पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुत. वही त्यागी है।

८ कामे कमाही कमियं खु दुक्ख ।

—२।५

९ वन इच्छसि आवेउ', सेयं ते मरणं भवे ।

—२।७

१० जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जय भुंजंतो भासतो, पावकम्म न वन्धइ ॥

—४।८

११ पढमं नाण तओ दया ।

—४।१०

१२ अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावग ?

—४।१०

१३ ज सेयं तं समायरे ।

—४।११

१४ जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाही सवर ?

—४।१२

१५ दवदवस्स न गच्छेज्जा ।

—५।१।१४

१६. हसतो नाभिगच्छेज्जा ।

—५।१।१४

१७ सकिलेसकर ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।

—५।१।१६

१८. असंसत्तं पलोइज्जा ।

—५।१।२३

१९ उप्फुल्ल न विणिज्झाए ।

—५।१।२३

८. कामनाओ को दूर करना ही दु खो को दूर करना है ।

९ वमन किए हुए (त्यक्त विपयो) को फिर से पीना (पाना) चाहते हो ? इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है ।

१०. चलना, खडा होना, वैठना, सोना, भोजन करना और वोलना आदि प्रवृतियाँ यतनापूर्वक करते हुए साधक को पाप कर्म का वन्ध नही होता ।

११. पहले ज्ञान होना चाहिए और फिर तदनुसार दया—अर्थात् आचरण ।

१२ अज्ञानी आत्मा क्या करेगा ? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगा ?

१३. जो श्रेय (हितकर) हो, उमी का आचरण करना चाहिए ।

१४ जो न जीव (चैतन्य) को जानता है, और न अजीव (जड) को, वह सयम को कैसे जान पाएगा ?

१५ मार्ग मे जल्दी जल्दी—तावड तोवड नही चलना चाहिए ।

१६ मार्ग मे हसते हुए नही चलना चाहिए ।

१७ जहाँ भी कही क्लेश की सभावना हो, उस स्थान से दूर रहना चाहिए ।

१८. किसी भी वस्तु को ललचाई आँखो से (आसक्ति पूर्वक) न देखे ।

१९. आँखें फाडते हुए, (घूरते हुए) नही देखना चाहिए ।

२०. निग्गट्टिज्ज अयपिरो ।

—५।१।२३

२१ अकप्पियं न गिण्हिज्जा ।

—५।१।२७

२२ छद्द से पडिलेहए ।

—५।१।३७

२३ महुवयं व भुंजिज्ज संजए ।

—५।१।९७

२४ उप्पण्णं नाइहीलिज्जा ।

—५।१।९९

२५ मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गइं ।

—५।१।१००

२६. काले कालं समायरे ।

—५।२।४

२७. अलाभोत्ति न सोइज्जा, तवोत्ति अहियासए ।

—५।२.६

२८ अदीणो वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पंडिए ।

—५।२।२८

२९ पूयणट्ठा जसोकामी, माणसमाणकामए ।
वहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वइ ।

—५।२।३७

३०. अणुमायं पि मेहावी, मायामोसं वि वज्जए ।

—५।२।५१

३१ अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ।

—६।९

२० किसी के यहाँ अपना अभीष्ट काम न बन पाए तो बिना कुछ बोले (झगड़ा किए) शात भाव से लौट आना चाहिए।

२१ अयोग्य वस्तु, कैसी भी क्यो न हो, स्वीकार नही करना चाहिए।

२२ व्यक्ति के अन्तर्मन को परखना चाहिए।

२३. सरस या नीरस—जैसा भी आहार मिले, साधक उसे 'मधु-घृत' की तरह प्रसन्नतापूर्वक खाए।

२४. समय पर प्राप्त उचित वस्तु की अवहेलना न कीजिए।

२५ मुधादायी—निष्कामभाव से दान देने वाला, और मुधाजीवी—निस्पृह होकर साधनामय जीवन जीने वाला—दोनो ही सद्गति प्राप्त करते हैं।

२६ जिस काल (समय) मे जो कार्य करने का हो, उस काल मे वही कार्य करना चाहिए।

२७. भिक्षु को यदि कभी मर्यादानुकूल शुद्ध भिक्षा न मिले, तो खेद न करे, अपितु यह मानकर अलाभ परीषह को सहन करे कि अच्छा हुआ, आज सहज ही तप का अवसर मिल गया।

२८ आत्मविद् साधक अदीन भाव से जीवन यात्रा करता रहे। किसी भी स्थिति मे मन मे खिन्नता न आने दे।

२९ जो साधक पूजा प्रतिष्ठा के फेर मे पडा है, यश का भूखा है, मान सम्मान के पीछे दौडता है—वह उनके लिए अनेक प्रकार के दभ रचता हुआ अत्यधिक पाप कर्म करता है।

३०. आत्मविद् साधक अणुमात्र भी माया मृषा (दभ और असत्य) का सेवन न करे।

३१ सब प्राणियो के प्रति स्वय को सयत रखना—यही अहिंसा का पूर्ण दर्शन है।

३२ सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

—६।११

३३ मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।

—६।१३

३४. जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से।

—६।१६

३५. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।

— ६।२१

३६ अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं।

—६।२२

३७. कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए।

—६।५६

३८. जमट्ठं तु न जाणेज्जा, एवमेयंति नो वए।

—७।८

३९ जत्थ संका भवे तं तु, एवमेयंति नो वए।

— ७।९

४० सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो।

—७।११

४१. न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे।

—७।४८

४२ न हासमाणो वि गिरं वएज्जा।

—७।५४

४३. मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं।

—७।५५

४४. वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं।

—७।५६

३२. समस्त प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं। मरना कोई नही चाहता।

३३ विश्व के सभी सत्पुरुषो ने मृषावाद (असत्य) की निंदा की है।

३४. जो सदा सग्रह की भावना रखता है, वह साधु नही, (साधुवेष मे) गृहस्थ ही है।

३५. मूर्च्छा को ही वस्तुत परिग्रह कहा है।

३६ अकिंचन मुनि, और तो क्या, अपने देह पर भी ममत्व नही रखते।

३७. कुशील (अनाचार) वढाने वाले प्रसगो से साधक को हमेशा दूर रहना चाहिए।

३८. जिस वात को स्वय न जानता हो, उसके सम्वन्ध मे "यह ऐसा ही है"— इस प्रकार निश्चित भाषा न वोले।

३९ जिस विषय मे अपने को कुछ भी शंका जैसा लगता हो, उसके सम्वन्ध मे "यह ऐसा ही है'—इस प्रकार निश्चित भाषा न वोले।

४० वह सत्य भी नही वोलना चाहिए, जिससे किसी प्रकार का पापागम (अनिष्ट) होता हो।

४१. किसी प्रकार के दवाव या खुशामद से असाधु (अयोग्य) को साधु (योग्य) नही कहना चाहिए। साधु को ही साधु कहना चाहिए।

४२ हँसते हुए नही वोलना चाहिए।

४३. जो विचारपूर्वक सुन्दर और परिमित शब्द वोलता है, वह सज्जनो मे प्रशंसा पाता है।

४४. बुद्धिमान ऐसी भाषा वोले—जो हितकारी हो एव अनुलोम—सभी को प्रिय हो।

४५ अप्पमत्तो जये निच्चं ।

—८।१६

४६ वहुं सुणेहि कन्नेहिं, वहुं अच्छीहिं पिच्छइ ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥

—८।२०

४७ कन्नसोक्खेहिं सद्देहिं, पेम नाभिनिवेसए ।

—८।२६

४८ देहदुक्ख महाफलं ।

—८।२७

४९ थोवं लद्धुं न खिसए ।

—८।२९

५० न वाहिर परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।

—८।३०

५१ वीय त न समायरे ।

—८।३१

५२. वलं थामं च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं काल च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ।

—८।३५

५३ जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्म समायरे ॥

—८।३६

५४. कोह माण च माय च, लोभ च पाववड्ढण ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

—८।३७

५५ कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो

—८।३८

४५ सदा अप्रमत्त भाव से साधना मे यत्नशील रहना चाहिए।

४६ भिक्षु (मुनि, कानो से बहुत सी बातें सुनता है, आंखो से बहुत सी बातें देखता है, किंतु देखी सुनी सभी बातें (लोगो मे) कहना उचित नही है।

४७. केवल कर्णप्रिय तथ्यहीन शब्दो मे अनुरक्ति नही रखनी चाहिए।

४८. शारीरिक कष्टो को समभावपूर्वक सहने से महाफल की प्राप्ति होती है।

४९. मनचाहा लाभ न होने पर झुंझलाएँ नही।

५०. बुद्धिमान् दूसरो का तिरस्कार न करे और अपनी बडाई न करे।

५१ एक बार भूल होनेपर दुबारा उसकी आवृत्ति न करे।

५२. अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, क्षेत्र और काल को ठीक तरह मे परखकर ही अपने को किसी भी सत्कार्य के सम्पादन मे नियोजित करना चाहिए।

५३. जब तक बुढापा आता नही है, जब तक व्याधियो का जोर बढता नही है, जब तक इन्द्रिया (कर्मशक्ति) क्षीण नही होती हैं, तभी तक बुद्धिमान को, जो भी धर्माचरण करना हो, कर लेना चाहिए।

५४ क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो पाप की वृद्धि करने वाले है, अत. आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोपो का परित्याग कर दे।

५५ क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणो का विनाश कर डालता है।

५६. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

—८।३६

५७ रायणिएसु विणयं पउ जे ।

—८।४१

५८. सप्पहास विवज्जए ।

—८।४२

५६ अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।

—८।४७

६० पिट्ठिमस न खाइज्जा ।

—८।४७

६१ दिट्ठ मियं असदिद्धं, पडिपुन्नं विअजिय ।
अयपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥

—८।४६

६२ कुज्जा साहूहिं सथवं ।

—८।५३

६३. न या वि मोक्खो गुरुहीलणाए ।

—६।१।७

६४. जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे,
तस्संतिए वेणइय पउ जे ।

—६।१।१२

६५. एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो यसे मोक्खो ।

—६।२।२

६६. जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठ सोयगय जहा ॥

—६।२।३

५६. क्रोध को शान्ति से, मान को मृदुता-नम्रता से, माया को ऋजुता—सरलता से और लोभ को सतोप से जीतना चाहिए।

५७. वडो (रत्नाधिक) के साथ विनयपूर्ण व्यवहार करो।

५८. अट्टहास नही करना चाहिए।

५९. विना पूछे व्यर्थ ही किसी के वीच मे नही वोलना चाहिए।

६०. किसी की चुगली खाना—पीठ का मास नोचने के समान है, अत किसी की पीठ पीछे चुगली नही खाना चाहिए।

६१. आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत), परिमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण (अधूरी कटी-छटी वात नही) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किंतु, यह ध्यान मे रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरो को उद्विग्न करने वाली न हो।

६२ हमेशा साधुजनो के साथ ही सस्तव—सपर्क रखना चाहिए।

६३. गुरुजनो की अवहेलना करने वाला कभी वंधनमुक्त नही हो सकता।

६४. जिन के पास धर्मपद—धर्म की शिक्षा ले, उनके प्रति सदा विनयभाव रखना चाहिए।

६५. धर्म का मूल विनय है, और मोक्ष उसका अन्तिम फल है।

६६. जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह ससारके प्रवाहमे वैसे ही वह जाता है, जैसे जल के प्रवाह मे काष्ठ।

६७. जे आयरिय-उवज्झायाण, सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढ ति, जलसित्ता इव पायवा।

—६।२।१२

६८. विवत्ती अविणीयस्स, सपत्ती विणीयस्स य।

—६।२।२२

६९ असविभागी न हु तस्स मोक्खो।

—६।२।२३

७०. जो छ्दमाराहयई स पुज्जो।

—६।३।१

७१. अलद्धुय नो परिदेवइज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो।

—६।३।४

७२ वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुवंधीणि महब्भयाणि।

—६।३।७

७३. गुणेहिं साहू, अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू।

—६।३।११

७४ वियाणिया अप्पगमप्पएण,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो।

—६।३।११

७५. वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू।

—१०।१

७६. सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे।

—१०।७

७७. न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा।

—१०।१०

६७ जो अपने आचार्य एव उपाध्यायो की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करता है, उसकी शिक्षाएँ (विद्याएँ) वैसे ही बढती हैं जैसे कि जल से सीचे जाने पर वृक्ष।

६८. अविनीत विपत्ति (दु ख) का भागी होता है और विनीत सपत्ति (सुख) का।

६९. जो सविभागी नही है, अर्थात् प्राप्त सामग्री को साथियो मे बाटता नही है, उसकी मुक्ति नहीं होती।

७०. जो गुरुजनो की भावनाओ का आदर करता है, वही शिष्य पूज्य होता है।

७१. जो लाभ न होने पर खिन्न नही होता है, और लाभ होने पर अपनी बड़ाई नही हाकता है, वही पूज्य है।

७२. वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म जन्मान्तर के वैर और भय के कारण बन जाते हैं।

७३ सद्गुण से साधु कहलाता है, दुर्गुण से असाधु। अतएव दुर्गुणो का त्याग करके सद्गुणो को ग्रहण करो।

७४. जो अपने को अपने से जानकर रागद्वेष के प्रसगो मे सम रहता है, वही साधक पूज्य है।

७५. जो वान्त—त्याग की हुई वस्तु को पुन सेवन नही करता, वही सच्चा भिक्षु है।

७६. जिसकी दृष्टि सम्यग् है, वह कभी कर्तव्य-विमूढ नही होता।

७७. विग्रह बढाने वाली बात नही करनी चाहिए।

७८ उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ।

—१०।१०

७९ पुढविसमो मुणी हवेज्जा ।

—१०।१३

८० संभिन्नवत्तस्स य हिट्ठिमा गई ।

—चू० १।१३

८१. बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ।

—चू० १।१४

८२ चइज्ज देह, न हु धम्मसासणं ।

—चू० १।१७

८३. अणुसोओ ससारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ।

—चू० २।३

८४ जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
सपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कड किंच मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्ज न समायरामि ॥

—चू० २।१२

८५. अप्पा हु खलु सयय रक्खिअव्वो ।

—चू० २।१६

७८ जो शान्त है, और अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक (अनुपेक्षी) है, वही श्रेष्ठ भिक्षु है।

७९. मुनि को पृथ्वी के समान क्षमाशील होना चाहिए।

८०. व्रत से भ्रष्ट होने वाले की अधोगति होती है।

८१. सद्बोध प्राप्त करने का अवसर बार-बार मिलना सुलभ नही है।

८२. देह को (आवश्यक होने पर) भले छोड दो, किन्तु अपने धर्म-शासन को मत छोड़ो।

८३. अनुस्रोत—अर्थात् विषयासक्त रहना, ससार है। प्रतिस्रोत—अर्थात् विषयों से विरक्त रहना, ससार सागर से पार होना है।

८४. जागृत साधक प्रतिदिन रात्रि के प्रारम्भ मे और अन्त मे सम्यक् प्रकार से आत्मनिरीक्षण करता है कि मैंने क्या (सत्कर्म) किया है, क्या नही किया है? और वह कौन सा कार्य वाकी है, जिसे मैं कर सकने पर भी नही कर रहा हूँ?

८५ अपनी आत्मा को सतत पापो से वचाये रखना चाहिए।

उत्तराध्ययन की सूक्तियां

१ आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥

—१।२

२ जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥

—१।४

३. कणकुंडग चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सील चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥

—१।५

४ विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ।

—१।६

५ अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ।

—१।८

६ अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ।

—१।९

७. खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ।

—१।९

उत्तराध्ययन की सूक्तियां

●

१. जो गुरुजनो की आज्ञाओ का यथोचित पालन करता है, उनके निकट सपर्क मे रहता है, एव उनके हर सकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है—उसे विनीत कहा जाता है।

२. जिस प्रकार सडे हुए कानो वाली कुतिया जहाँ भी जाती है, निकाल दी जाती है ; उसी प्रकार दु शील, उद्द ड और मुखर=वाचाल मनुष्य भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

३ जिस प्रकार चावलो का स्वादिष्ट भोजन छोडकर शूकर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार पशुवत् जीवन विताने वाला अज्ञानी, शील=सदाचार को छोडकर दु शील=दुराचार को पसन्द करता है।

४ आत्मा का हित चाहने वाला साधक स्वय को विनय=सदाचार मे स्थिर करे।

५. अर्थयुक्त (सारभूत) वाते ही ग्रहण कीजिये, निरर्थक वातें छोड दीजिये।

६ गुरुजनो के अनुशासन से कुपित=क्षुब्ध नही होना चाहिए।

७ क्षुद्र लोगो के साथ सपर्क, हसी मजाक, क्रीडा आदि नही करना चाहिए।

८ वहुयं मा य आलवे ।

—१।१०

९ आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि ।

—१।११

१० कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकड नो कडे त्ति य ।

—१।११

११ मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।

—१।१२

१२. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालिय वए ।

—१।१४

१३. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥

—१।१५

१४ वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, वंधणेहिं वहेहि य ॥

—१।१६

१५ हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ।

—१।२८

१६ काले काल समायरे ।

—१।३१

१७. रमए पंडिए सासं, हय भद्दं व वाहए ।

—१।३७

१८. वाल सम्मइ सासंतो, गलियस्स व वाहए ।

—१।३७

१९ अप्पाण पि न कोवए ।

—१।४०

८. बहुत नही बोलना चाहिए ।

९. यदि साधक कभी कोई चाण्डालिक=दुष्कर्म करले, तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे ।

१० विना किसी छिपाव या दुराव के किये हुए कर्म को किया हुआ कहिए, तथा नही किये हुए कर्म को न किया हुआ कहिए ।

११ वार-वार चाबुक की मार खाने वाले गलिताश्व (अडियल या दुर्वल घोडे) की तरह कर्त्तव्य पालन के लिये वार वार गुरुओ के निर्देश की अपेक्षा मत रखो ।

१२. विना बुलाए बीच मे कुछ नही बोलना चाहिए, बुलाने पर भी असत्य जैसा कुछ न कहे ।

१३. अपने आप पर नियत्रण रखना चाहिए । अपने आप पर नियत्रण रखना वस्तुत. कठिन है । अपने पर नियत्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक मे सुखी होता है ।

१४. दूसरे वध और वधन आदि से दमन करें, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वय ही सयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओ का) दमन कर लू ।

१५. प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनो की जिन शिक्षाओ को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती हैं ।

१६. समय पर, समय का उपयोग (समयोचित कर्त्तव्य) करना चाहिए ।

१७. विनीत बुद्धिमान शिष्यो को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोडे) पर सवारी करता हुआ घुडसवार ।

१८ वाल अर्थात् जडमूढ शिष्यो को शिक्षा देता हुआ गुरु उसी प्रकार खिन्न होता है, जैसे अडियल या मरियल घोडे पर चढा हुआ सवार ।

१९. अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो ।

२०. न सिया तोत्तगवेसए।

—१।४०

२१ नच्चा नमइ मेहावी।

—१। ५

२२ माइन्ने असणपाणस्स।

—२।३

२३. अदीणमणसो चरे।

—२।३

२४ न य वित्तासए परं।

—२।२०

२५ संकाभीओ न गच्छेज्जा।

—२।२१

२६ सरिसो होइ बालाणं।

—२।२४

२७. नत्थि जीवस्स नासो त्ति।

—२।२७

२८ अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए।

—२।३१

२९ चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

—३।१

३० जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं।

—३।७

३१. सद्धा परमदुल्लहा।

—३।९

२०. दूसरो के छलछिद्र नही देखना चाहिए ।

२१. बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त कर के नम्र हो जाता है ।

२२ साधक को खाने पीने की मात्रा=मर्यादा का ज्ञाता होना चाहिए ।

२३. ससार मे अदीनभाव से रहना चाहिए ।

२४. किसी भी जीव को त्रास=कष्ट नही देना चाहिए ।

२५ जीवन मे शकाओ से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो ।

२६. बुरे के साथ बुरा होना, बचकानापन है ।

२७. आत्मा का कभी नाश नही होता ।

२८ "आज नही मिला है तो क्या है, कल मिल जायगा"—जो यह विचार कर लेता है, वह कभी अलाभ के कारण पीडित नही होता ।

२९. इस संसार मे प्राणियों को चार परम अंग (उत्तम सयोग) अत्यन्त दुर्लभ हैं—(१) मनुष्य जन्म (२) धर्म का सुनना (३) सम्यक् श्रद्धा (४) और सयम मे पुरुषार्थ ।

३० ससार मे आत्माए क्रमश शुद्ध होते-होते मनुष्यभव को प्राप्त करती हैं।

३१. धर्म में श्रद्धा होना परम दुर्लभ है ।

३२. सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—३।१२

३३ असंखयं जीविय मा पमायए,

—४।१

३४. वेराणुबद्धा नरय उवेंति।

—४।२

३५. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।

—४।३

३६. सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।

—४।३

३७. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।

—४।५

३८. घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्तो।

—४।६

३६ सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी।

—४।६

४०. छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं।

—४।८

४१. कंखे गुणे जाव सरीरभेऊ।

—४।१३

४२ चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सील परियागयं॥

—५।२१

४३. भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं।

—५।२२

३२. ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है। और विशुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहरता है।

३३ जीवन का धागा टूटजाने पर पुन जुड नही सकता, वह असस्कृत है, इसलिए प्रमाद मत करो।

३४ जो वैर की परम्परा को लम्बा किए रहते हैं, वे नरक को प्राप्त होते हैं।

३५. कृत कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही है।

३६. पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होता है।

३७ प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नही कर सकता, न इस लोक मे और न परलोक मे।

३८ समय वडा भयकर है, और इधर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होता हुआ शरीर है। अत साधक को सदा अप्रमत्त होकर भारडपक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करना चाहिए।

३९ प्रवुद्ध साधक सोये हुओ (प्रमत्त मनुष्यो) के वीच भी सदा जागृत-अप्रमत्त रहे।

४० इच्छाओ को रोकने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

४१ जव तक जीवन है (शरीर-भेद न हो), सद्‌गुणो की आराधना करते रहना चाहिए।

४२ चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाए, कन्था और शिरोमुडन—यह सभी उपक्रम आचारहीन साधक की (दुर्गति से) रक्षा नही कर सकते।

४३ भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती (सदाचारी) है, वह दिव्यगति को प्राप्त होता है।

४४. गिहिवासे वि सुव्वए।

—५।२४

४५. न संतसति मरणते,, सीलवंता वहुस्सुया।

—५।२९

४६ जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसभवा।
लुप्पति वहुसो मूढा, ससारम्मि अणतए॥

—६।१

४७ अप्पणा सच्चमेसेज्जा।

—६।२

४८. मेत्ति भूएसु कप्पए।

—६।२

४९ न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए।

—६।७

५०. भणता अकरेन्ता य, वंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय॥

—६।१०

५१. न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासण।

—६।११

५२ पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देह समुद्धरे।

—६।१४

५३. आसुरीय दिस वाला, गच्छति अवसा तमं।

—७।१०

५४ माणुसत्त भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाण, नरगतिरिक्ख त्तण धुव॥

—७।१६

४४. धर्मशिक्षासपन्न गृहस्थ गृहवास मे भी सुव्रती है।

४५ ज्ञानी और सदाचारी आत्माए मरणकाल मे भी त्रस्त अर्थात् भयाक्रात नही होते।

४६. जितने भी अज्ञानी—तत्त्व-वोध-हीन पुरुप है, वे सव दु ख के पात्र हैं। इस अनन्त ससार मे वे मूढ प्राणी वार-वार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

४७. अपनी स्वय की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसधान करो।

४८. समस्त प्राणियो पर मित्रता का भाव रखो।

४९. जो भय और वैर से उपरत—मुक्त हैं, वे किसी प्राणी की हिंसा नही करते।

५०. जो केवल वोलते हैं, करते कुछ नही, वे वन्ध मोक्ष की वातें करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के वल पर ही अपने आप को आश्वस्त किए रहते हैं।

५१ विविध भापाओ का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नही वचा सकता, फिर भला विद्याओ का अनुशासन—अध्ययन किसी को कैसे वचा सकेगा?

५२ पहले के किए हुए कर्मो को नप्ट करने के लिए इस देह की सार-सभाल रखनी चाहिये।

५३. अज्ञानी जीव विवश हुए अधकाराच्छन्न आसुरीगति को प्राप्त होते है।

५४. मनुप्य-जीवन मूल-धन है। देवगति उस मे लाभ रूप है। मूल-धन के नाश होने पर नरक, तिर्यंच-गति रूप हानि होती है।

५५. कम्मसच्चा हु पाणिणो ।

—७।२०

५६. वहुकम्मलेवलित्ताणं, वोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ।

—८।१५

५७ कसिणं पि जो इम लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

—८।१६

५८ जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

—८।१७

५६ संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं ।

—६।२६

६०. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

—६।३४

६१. सव्वं अप्पे जिए जियं ।

—६।३६

६२. इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

—६।४८

६३ कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं ।

—६।५३

६४ अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भय ॥

—६।५४

६५ दुमपत्तए पडुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एव मणुयाण जीविय,
समय गोयम ! मा पमायए ॥

—१०।१

५५. प्राणियो के कर्म ही सत्य हैं ।

५६. जो आत्माएं बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।

५७. धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय, तब भी वह उससे सतुष्ट नही हो सकता—इस प्रकार आत्मा की यह तृष्णा बडी दुष्पूर (पूर्ण होना कठिन) है ।

५८. ज्यो-ज्यो लाभ होता है, त्यो-त्यो लोभ होता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरतर बढता ही जाता है । दो माशा सोने से सतुष्ट होने वाला करोडो (स्वर्णमुद्राओ) से भी सतुष्ट नही हो पाया ।

५९ साधना मे सशय वही करता है, जो कि मार्ग मे ही घर करना (रुक जाना) चाहता है ।

६० भयकर युद्ध मे हजारो—हजार दुर्दान्त शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा अपने आप को जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है ।

६१ एक अपने (विकारो) को जीत लेने पर सब को जीत लिया जाता है ।

६२. इच्छाए आकाश के समान अनन्त हैं ।

६३. काम भोग की लालसा-ही-लालसा मे प्राणी, एक दिन, उन्हे बिना भोगे ही दुर्गति मे चला जाता है ।

६४. क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है । मान से अधम गति प्राप्त करता है । माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । लोभ से इस लोक और परलोक—दोनो मे ही भय=कष्ट होता है ।

६५. जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड जाते हैं, एव भूमि पर झड पडते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जाता है । अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर ।

६६ कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एव मणुयाण जीविय,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

—१०।२

६७. विहुणाहि रयं पुरे कड ।

—१०।३

६८. दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।

—१०।४

६९ परिजूरइ ते सरीरय, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ।।

—१०।२६

७० तिण्णोहु सि अण्णव मह, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पार गमित्तए, समय गोयम ! मा पमायए ।।

—१०।३४

७१ अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण वा ॥

—११।३

७२ न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ।

—११।१२

७३. पियकरे पियंवाई, से सिक्ख लद्धु मरिहई ।

—११।१४

७४. महप्पसाया इसिणो हवति,
न हु मुणी कोवपरा हवति ।

—१२।३१

६६. जैसे कुशा (घास) की नोक पर हिलती हुई ओस की बूद बहुत थोडे समय के लिए टिक पाती है, ठीक ऐसा ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभगुर है। अतएव हे गौतम ! क्षणभर के लिए भी प्रमाद न कर !

६७. पूर्वसचित कर्म-रूपी रज को साफ कर !

६८ मनुष्य जन्म निश्चय ही बडा दुर्लभ है।

६९ तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।

७०. तू महासमुद्र को तैर चुका है, अब किनारे आकर क्यो बैठ गया ? उस पार पहुँचने के लिये शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद उचित नही है।

७१. अहकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति), रोग और आलस्य—इन पाच कारणो से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नही कर सकता।

७२ सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी परिचितो पर कुपित ही होता है। और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष मे उसकी भलाई की ही बात करता है।

७३. प्रिय (अच्छा) कार्य करने वाला और प्रिय वचन बोलने वाला अपनी अभीष्ट शिक्षा प्राप्त करने मे अवश्य सफल होता है।

७४. ऋषि-मुनि सदा प्रसन्नचित रहते हैं, कभी किसी पर क्रोध नही करते।

७५. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई।

—१२।३७

७६. तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती।
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

—१२।४४

७७. धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥

—१२।४६

७८. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।

—१३।१०

७९. सव्वे कामा दुहावहा।

—१३।१६

८०. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

—१३।२३

८१. वण्णं जरा हरइ नरस्स राय!

—१३।२६

८२. उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी।

—१३।३१

८३. वेया अहीया न हवंति ताणं।

—१४।१२

८४. खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा।

—१४।१३

७५. तप (चरित्र) की विशेषता तो प्रत्यक्ष मे दिखलाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नही आती ।

७६. तप-ज्योति अर्थात् अग्नि है, जीव ज्योतिस्थान है, मन, वचन, काया के योग स्रुवा=आहुति देने की कडछी है,शरीर कारीषाग=अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है, कर्म जलाए जाने वाला इंधन है, सयम योग शान्ति-पाठ है । मैं इस प्रकार का यज्ञ—होम करता हूँ, जिसे ऋषियो ने श्रेष्ठ बताया है ।

७७. धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शातितीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्मा स्नान कर कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।

७८. मनुष्य के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते हैं ।

७९. सभी काम भोग अन्तत. दु खावह (दु खद) ही होते है ।

८०. कर्म सदा कर्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं ।

८१. हे राजन् ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है ।

८२. जैसे वृक्षके फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोडकर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोगसाधन उसे छोड़ देते हैं, उसके हाथ से निकल जाते हैं ।

८३. अध्ययन कर लेने मात्र से वेद (शास्त्र) रक्षा नही कर सकते ।

८४. संसार के विषय भोग क्षण भर के लिए सुख देते हैं, किन्तु बदले में चिर काल-तक दु.खदायी होते हैं ।

८५ धणेण किं धम्मधुराहिगारे ?

—१४।१७

८६. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा,
अमुत्तभावा वि य होइ निच्च।

—१४।१९

८७ अज्झत्थ हेउं निययस्स बंधो।

—१४।१९

८८ मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।

—१४।२३

८९ जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

—१४।२५

९०. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥

—१४।२७

९१ सद्धा खमं णे विणइत्तु रागं।

—१४।२८

९२ साहाहि रुक्खो लहई समाहिं,
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं।

—१४।२९

९३. जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।

—१४।३३

९४. सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव॥

—१४।३९

९५. एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि।

—१४।४०

८५ धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है ?(वहा तो सदाचार की जरूरत है)

८६. आत्मा आदि अमूर्त तत्त्व इन्द्रियग्राह्य नही होते। और जो अमूर्त होते हैं वे अविनाशी—नित्य भी होते है।

८७ अदर के विकार ही वस्तुत बंधन के हेतु हैं।

८८ जरा से घिरा हुआ यह ससार मृत्यु से पीडित हो रहा है।

८९. जो रात्रिया वीत जाती हैं, वे पुन लौट कर नही आती। किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रिया सफल हो जाती है।

९०. जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो उससे कही भाग कर वच सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूगा ही नही, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

९१. धर्म-श्रद्धा हमे राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है।

९२ वृक्ष की सुन्दरता शाखाओ से है। शाखाएं कट जाने पर वही वृक्ष-ठूठ (स्थाणु) कहलाता है।

९३ बूढा हस प्रतिस्रोत (जलप्रवाह के सम्मुख) मे तैरने से डूव जाता है। (असमर्थ व्यक्ति समर्थ का प्रतिरोध नही कर सकता)।

९४. यदि यह जगत् और जगत का समस्त धन भी तुम्हे दे दिया जाय, तब भी वह (जरा मृत्यु आदि से) तुम्हारी रक्षा करने मे अपर्याप्त—असमर्थ है।

९५. राजन् ! एक धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवा विश्व मे कोई भी मनुष्य का त्राता नही है।

९६ उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणु' चरे।

—१४।४७

९७. देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस्स-किन्नरा।
बभयारि नमसंति, दुक्करं जे करंति तं॥

—१६।१६

९८. भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणे त्ति वुच्चई।

—१७।३

९९ असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई।

—१७।११

१००. अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ?

—१८।११

१०१ जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसपायचचल।

—१८।१३

१०२. दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवंति, मय नाणुव्वयंति य॥

—१८।१४

१०३ किरिअं च रोयए धीरो।

—१८।३३

१०४. जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो॥

—१९।१६

१०५. भासियव्वं हियं सच्च।

—१९।२७

१०६ दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।

—१९।२८

१०७. बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही।

—१९।३७

९६. सर्प, गरुड के निकट डरता हुआ बहुत संभल के चलता है।

९७. देवता, दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते हैं, क्यो कि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है।

९८. जो श्रमण खा पीकर खूब सोता है, समय पर धर्माराधना नही करता, वह पापश्रमण' कहलाता है।

९९. जो श्रमण असविभागी है (प्राप्त सामग्री को साथियो मे बाटता नही है, और परस्पर प्रेमभाव नही रखता है), वह 'पाप श्रमण' कहलाता है।

१०० जीवन अनित्य है, क्षणभगुर है, फिर क्यो हिंसा मे आसक्त होते हो ?

१०१. जीवन और रूप, बिजली की चमक की तरह चचल हैं।

१०२. स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सभी जीते जी के साथी हैं, मरने के बाद कोई किसी के पीछे नही जाता।

१०३ धीर पुरुष सदा क्रिया (कर्तव्य) मे ही रुचि रखते हैं।

१०४ ससार मे जन्म का दु ख है, जरा, रोग और मृत्यु का दु ख है, चारो ओर दु:ख ही दु:ख है। अतएव वहा प्राणी निरतर कष्ट ही पाते रहते हैं।

१०५. सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए।

१०६. अस्तेयव्रत का साधक बिना किसी की अनुमति के, और तो क्या, दात साफ करने के लिए एक तिनका भी नही लेता।

१०७. सद्गुणो की साधना का कार्य भुजाओ से सागर तैरने जैसा है।

१०८. असिधारागमणं चेव, दुक्कर चरिउं तवो।

—१६।३८

१०९. इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं।

—१६।४५

११०. ममत्तं छिन्दए ताए, महानागोव्व कंचुयं।

—१६।८७

१११. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु, समो माणावमाणओ॥

—१६।९१

११२. अप्पणा अनाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि ?

—२०।१२

११३. अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥

—२०।३६

११४. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

—२०।३७

११५. राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु।

—२०।४२

११६. न तं अरी कंठछित्ता करेई,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।

—२०।४८

११७ कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबल जाणिय अप्पणो य।

—२१।१४

११८. सीहो व सद्देण न संतसेज्जा।

—२१।१४

१०८. तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

१०९. जो व्यक्ति ससार की पिपासा—तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नही है।

११०. आत्मसाधक ममत्व के बधन को तोड़ फेंके,—जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को उतार फेंकता है।

१११ जो लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशसा, और मान-अपमान मे समभाव रखता है, वही वस्तुत मुनि है।

११२ तू स्वय अनाथ है, तो फिर दूसरे का नाथ कैसे हो सकता है ?

११३ मेरी (पाप मे प्रवृत्त) आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष के समान (कष्टदायी) है। और मेरी आत्मा ही (सत्कर्म मे प्रवृत्त) कामधेनु और नदन वन के समान सुखदायी भी है।

११४ आत्मा ही सुख दु ख का कर्त्ता और भोक्ता है। सदाचार मे प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है, और दुराचार मे प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

११५. वैडूर्य रत्न के समान चमकने वाले काच के टुकड़े का, जानकार (जोहरी) के समक्ष कुछ भी मूल्य नही रहता।

११६ गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नही करता, जितनी हानि दुराचार मे प्रवृत्त अपना ही स्वय का आत्मा कर सकता है।

११७ अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र (विश्व) मे विचरण करिए।

११८, सिंह के समान निर्भीक रहिए, केवल शब्दो (आवाजो) से न डरिए।

११९ पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।

—२१।१५

१२०. न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा।

—२१।१५

१२१. अरोगछन्दा इह माणवेहिं।

—२१।१६

१२२. अणुन्नए नावणए महेसी,
न यावि पूयं, गरिह च संजए।

—२१।२०

१२३ नाणेणं दसणेणं च, चरित्तेण तवेण य।
खतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य॥

—२२।२६

१२४. पन्ना समिक्खए धम्मं।

—२३।२५

१२५. विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छिउ।

—२३।३१

१२६. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।

—२३।३२

१२७. एगप्पा अजिए सत्तू।

—२३।३८

१२८. भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया।

—२३।४८

१२९ कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जल।

—२३।५३

१३०. मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थग॥

—२३।५८

११९　प्रिय हो या अप्रिय, सब को समभाव से सहन करना चाहिए।

१२०.　हर कही, हर किसी वस्तु मे मन को मत लगा बैठिए।

१२१.　इस ससार मे मनुष्यो के विचार (छन्द=रुचियाँ) भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

१२२.　जो पूजा-प्रशसा सुनकर कभी अहकार नही करता, और निन्दा सुन कर स्वय को हीन (अवनत) नही मानता, वही वस्तुत महर्षि है।

१२३　ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, क्षमा और निर्लोभता की दिशा मे निरन्तर वर्द्धमान=बढते रहिए।

१२४.　साधक की स्वय की प्रज्ञा ही समय पर धर्म की समीक्षा कर सकती है।

१२५.　विज्ञान (विवेक ज्ञान) से ही धर्म के साधनो का निर्णय होता है।

१२६.　धर्मो के वेष आदि के नाना विकल्प जनसाधारण मे प्रत्यय (परिचय-पहिचान) के लिए हैं।

१२७.　स्वय की अविजित=असयत आत्मा ही स्वय का एक शत्रु है।

१२८.　संसार की तृष्णा भयकर फल देने वाली विष-वेल है।

१२९.　कषाय—(क्रोध, मान माया और लोभ) को अग्नि कहा है। उसको बुझाने के लिए श्रुत (ज्ञान) शील, सदाचार और तप जल है।

१३०.　यह मन वडा ही साहसिक, भयंकर, दुष्ट घोडा है, जो वडी तेजी के साथ दौड़ता रहता है। मैं धर्मशिक्षारूप लगाम से उस घोडे को अच्छी तरह वश मे किए रहता हूँ।

१३१ जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

—२३।६८

१३२ जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥

—२३।७१

१३३ सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥

—२३।७३

१३४. जहा पोम जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्त कामेहिं, तं वयं बूम माहण ॥

—२५।२७

१३५ न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो।

—२५।३१

१३६ समयाए समणो होइ, बभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥

—२५।३२

१३७. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

—२५।३३

१३८ उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

—२५।४१

१३९ विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए।

—२५।४३

१३१. जरा और मरण के महाप्रवाह मे डूबते प्राणिओ के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा=आधार है, गति है, और उत्तम शरण है।

१३२. छिद्रो वाली नौका पार नही पहुँच सकती, किंतु जिस नौका मे छिद्र नहीं है, वही पार पहुँच सकती है।

१३३. यह शरीर नौका है, जीव-आत्मा उसका नाविक (मल्लाह) है, और संसार समुद्र है। महर्षि इस देहरूप नौका के द्वारा ससार-सागर को तैर जाते है।

१३४. ब्राह्मण वही है—जो ससार मे रह कर भी काम भोगो से निर्लिप्त रहता है, जैसे कि कमल जल मे रहकर भी उससे लिप्त नही होता।

१३५ सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नही होता, ओकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, जंगल मे रहने से कोई मुनि नही होता और कुशचीवर=वल्कल धारण करने से कोई तापस नही होता।

१३६. समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है।

१३७. कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र।

१३८ जो भोगी (भोगासक्त), है, वह कर्मों से लिप्त होता है। और जो अभोगी है, भोगासक्त नही है, वह कर्मों से लिप्त नही होता। भोगासक्त ससार मे परिभ्रमण करता है। भोगो मे अनासक्त ही ससार से मुक्त होता है।

१३९ मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कही भी चिपकता नही है, अर्थात् आसक्त नही होता।

१४०. सज्झाएवा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे।

—२६।१०

१४१ सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं।

—२६।३७

१४२. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गे त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

—२८।२

१४३ नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं।

—२८।२९

१४४ नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं॥

—२८।३०

१४५ नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥

—२८।३५

१४६. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयई।

—२९।८

१४७. खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ।

—२९।१७

१४८ सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।

—२९।१८

१४९. वेयावच्चेणं तित्थयरं नामगोत्तं कम्मं निबन्धई।

—२९।४३

१५० वीयरागयाए णं नेहाणुबन्धणाणि,
तण्हाणुबन्धणाणि य वोच्छिंदई।

—२९।४५

१४०. स्वाध्याय करते रहने से समस्त दु.खो से मुक्ति मिलती है।

१४१. स्वाध्याग सव भावो (विषयों) का प्रकाश करने वाला है।

१४२. वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले जिन भगवान ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्षका मार्ग वताया है।

१४३. सम्यक्त्व (सत्यदृष्टि) के अभाव मे चारित्र नही हो सकता।

१४४. सम्यग् दर्शन के अभाव मे ज्ञान प्राप्त नही होता, ज्ञान के अभाव मे चारित्र के गुण नही होते, गुणो के अभाव मे मोक्ष नही होता और मोक्ष के अभाव मे निर्वाण (शाश्वत आत्मानन्द) प्राप्त नही होता।

१४५. ज्ञान से भावो (पदार्थों) का सम्यग् वोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है। चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होता है।

१४६. सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियो का निरोध हो जाता है।

१४७. क्षमापना से आत्मा मे प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

१४८ स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करने वाले) कर्म का क्षय होता है।

१४९. वैयावृत्य (सेवा) से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है।

१५०. वीतराग भाव की साधना से स्नेह (राग) के वधन और तृष्णा के वंधन कट जाते हैं।

१५१. अविसंवायणसपन्नयाए ण जीवे,
धम्मस्स आराहए भवइ।

—२९।४८

१५२ करण सच्चे वट्माणे जीवे,
जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

—२९।५१

१५३ वयगुत्तयाए ण णिव्विकारत्तं जणयई।

—२९।५४

१५४. जहा सूई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, ससारे न विणस्सइ॥

—२९।५९

१५५ कोहविजए ण खंति जणयई।

—२९।६७

१५६ माणविजए णं मद्दव जणयई।

—२९।६८

१५७ मायाविजएणं अज्जवं जणयइ।

—२९।६९

१५८ लोभ विजएणं सतोसं जणयई।

—२९।७०

१५९. भवकोडी-सचिय कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।

—३०।६

१६०. असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तण।

—३१।२

१६१. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्ख समुवेइ मोक्ख।

—३२।२

१५१. दम्भरहित, अविसवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है ।

१५२ करणसत्य-व्यवहार मे स्पष्ट तथा सच्चा रहने वाला आत्मा 'जैसी कथनी वैसी करनी' का आदर्श प्राप्त करता है ।

१५३. वचन गुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है ।

१५४. धागे मे पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुम नही होती, उसी प्रकार ज्ञानरूप धागे से युक्त आत्मा ससार मे भटकता नही, विनाश को प्राप्त नही होता ।

१५५ क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है ।

१५६. अभिमान को जीत लेने से मृदुता (नम्रता) जागृत होती है ।

१५७ माया को जीत लेने से ऋजुता (सरल भाव) प्राप्त होती है ।

१५८ लोभ को जीत लेने से सतोष की प्राप्ति होती है ।

१५६. साधक करोड़ो भवो के सचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है ।

१६०. असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

१६१. ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग एव द्वेष के क्षय से, आत्मा एकान्तसुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है ।

१६२ जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति।

—३२।६

१६३. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति।

—३२।७

१६४. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

—३२।८

१६५ रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

—३२।१०

१६६. सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।

—३२।१९

१६७. लोभाविले आययई अदत्तं।

—३२।२९

१६८. रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु।

—३२।३६

१६२. जिस प्रकार बलाका (बगुली) अडे से उत्पन्न होती है और अडा बलाका से ; इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से ।

१६३. राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुत: दु ख है ।

१६४ जिसको मोह नही होता उसका दु ख नष्ट हो जाता है । जिस को तृष्णा नही होती, उसका मोह नष्ट हो जाता है । जिसको लोभ नही होता, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है । और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।

१६५ ब्रह्मचारी को घी दूध आदि रसो का अधिक सेवन नही करना चाहिए, क्योकि रस प्राय उद्दीपक होते हैं । उद्दीप्त पुरुष के निकट काम-भावनाएँ वैसे ही चली आती हैं, जैसे स्वादिष्ठ फल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले आते हैं ।

१६६ देवताओ सहित समग्र ससार मे जो भी दु ख हैं, वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं ।

१६७. जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है तो चोरी करने को प्रवृत्त होता है ।

१६८. मनोज्ञ शब्द आदि राग के हेतु होते हैं और अमनोज्ञ द्वेष के हेतु ।

१६९. सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।

—३२।४२

१७०. पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।

—३२।४६

१७१. न लिप्पई भवमज्झे वि संतो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं।

—३२।४७

१७२ समो य जो तेसु स वीयरागो।

—३२।६१

१७३. एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि॥

—३२।१००

१७४. न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

—३२।१०१

१७५. न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी।

—३५।१७

१७६ अउलं सुहसंपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ।

—३६।६६

१६९. शब्द आदि विषयो मे अतृप्त और परिग्रह मे आसक्त रहने वाला आत्मा कभी सतोष को प्राप्त नही होता ।

१७०. आत्मा प्रदुष्टचित्त (रागद्वेष से कलुषित) होकर कर्मों का संचय करता है । वे कर्म विपाक (परिणाम) मे बहुत दु खदायी होते हैं ।

१७१. जो आत्मा विषयो के प्रति अनासक्त है, वह ससार मे रहता हुआ भी उसमे लिप्त नही होता । जैसे कि पुष्करिणी के जल मे रहा हुआ पलाश —कमल ।

१७२. जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयो मे सम रहता है, वह वीतराग है ।

१७३ मन एव इन्द्रियो के विषय, रागात्मा को ही दु ख के हेतु होते हैं । वीतराग को तो वे किंचित् मात्र भी दु खी नही कर सकते ।

१७४ कामभोग—शब्दादि विषय न तो स्वय मे समता के कारण होते है और न विकृति के ही । किंतु जो उनमे द्वेष या राग करता है वह उनमे मोह से राग द्वेष रूप विकार को उत्पन्न करता है ।

१७५. साधु स्वाद के लिए भोजन न करे, किंतु जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए करे ।

१७६. मोक्ष मे आत्मा अनंत सुखमय रहता है । उस सुख की कोई उपमा नही है और न कोई गणना ही है ।

आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियाँ

●

१. अंगाणं किं सारो ? आयारो ।

—आचारांग निर्युक्ति, गाथा १६

२. सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं ।

—आचा० नि० १७

३. एक्का मणुस्सजाई ।

—आचा० नि० १६

४. हेट्ठा नेरइयाणं अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।

—आचा० नि० ५८

५. सायं गवेसमाणा, परस्स दुक्खं उदीरंति ।

—आचा० नि० ९४

६. भावे अ असंजमो सत्थं ।

—आचा० नि० ९६

७. कामनियत्तमई खलु, संसारा मुच्चई खिप्पं ।

—आचा० नि० १७७

८. कामा चरित्तमोहो ।

—आचा० नि० १८८

आचार्य भद्रबाहु की सूक्तियां

●

१. जिनवाणी (अग-साहित्य) का सार क्या है ? 'आचार' सार है।

२ प्ररूपणा का सार है—आचरण ।
आचरण का सार (अन्तिमफल) है—निर्वाण ।

३. समग्र मानवजाति एक है ।

४ नारको की दिशा, अधोदिशा है और देवताओ की दिशा ऊर्ध्व दिशा ।
(यदि अध्यात्मदृष्टि से कहा जाए तो अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक हैं और ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व के) ।

५. कुछ लोग अपने सुख की खोज मे दूसरो को दु.ख पहुँचा देते हैं ।

६ भाव-दृष्टि से ससार मे असयम ही सबसे बड़ा शस्त्र है ।

७ जिसकी मति, काम (वासना) से मुक्त है, वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है ।

८ वस्तुत. काम की वृत्ति ही चारित्रमोह (चरित्र-मूढ़ता) है ।

९. ससारस्स उ मूलं कम्म, तस्स वि हु ति य कसाया।

—आचा० नि० १८९

१० अभयकरो जीवाण, सीयघरो सजमो भवइ सीओ।

—आचा० नि० २०६

११ न हु वालतवेण मुक्खु त्ति।

—आचा० नि० २१४

१२ न जिणइ अंधो पराणीय।

—आचा० नि० २१९

१३. कुणमाणोऽवि निवित्ति,
परिच्चयतोऽवि सयण-धण-भोए।
दितोऽवि दुहस्स उर,
मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ॥

—आचा० नि० २२०

१४ दसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाइं।

—आचा० नि० २२१

१५ न हु कइतवे समणो।

—आचा० नि० २२४

१६ जह खलु झुसिरं कट्ठ, सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी।
तह खलु खवंति कम्म, सम्मच्चरणे ठिया साहू॥

—आचा० नि० २३४

१७ लोगस्स सार धम्मो, धम्मं पि य नाणसारिय बिति।
नाण सजमसारं सजमसार च निव्वाणं॥

—आचा० नि० २४४

१८. देसविमुक्का साहू, सव्वविमुक्का भवे सिद्धा।

—आचा० नि० २५९

९ संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कपाय है।

१०. प्राणिमात्र को अभय करने के कारण सयम शीतगृह (वातानुकूलित गृह) के समान शीत अर्थात् शान्तिप्रद है।

११ अज्ञानतप से कभी मुक्ति नही मिलती।

१२. अंधा कितना ही वहादुर हो, शत्रुसेना को पराजित नही कर सकता। इसी प्रकार अज्ञानी साधक भी अपने विकारो को जीत नही सकता।

१३. एक साधक निवृत्ति की साधना करता है, स्वजन, धन और भोग विलास का परित्याग करता है, अनेक प्रकार के कष्टो को सहन करता है, किंतु यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो अपनी साधना मे सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

१४. सम्यग् दृष्टि के ही तप, ज्ञान और चारित्र सफल होते हैं।

१५ जो दमी है, वह श्रमण नही हो सकता।

१६. जिस प्रकार पुराने सूखे, खोखले काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती है, वैसे ही निष्ठा के साथ आचार का सम्यक् पालन करने वाला साधक कर्मों को नष्ट कर डालता है।

१७ विश्व—सृष्टि का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान (सम्यग्-बोध) है, ज्ञान का सार सयम है, और संयम का सार निर्वाण—(शाश्वत आनंद की प्राप्ति) है।

१८. साधक कर्मबंधन से देशमुक्त (अशत मुक्त) होता है और सिद्ध सर्वथा मुक्त।

१६ जह खलु मइलं वत्थं, सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्ममट्ठविहं॥
—आचा० नि० २८२

२० जह वा विसगडूस, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा।
—सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ५२

२१ धम्ममि जो दढमई, सो सूरो सत्तिओ य वीरो य।
ण हु धम्मणिरुस्साहो, पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि॥
—सूत्र० नि० ६०

२२ अहवावि नाणदंसणचरित्तविणए तहेव अज्झप्पे।
जे पवरा होंति मुणी, ते पवरा पुंडरीया उ॥
—सूत्र० नि० १५६

२३. अवि य हु भारियकम्मा, नियमा उक्कस्सनिरयठितिगामी।
तेऽवि हु जिणोवदेसेण, तेणेव भवेण सिज्झंति॥
—सूत्र० नि० १६०

२४ धम्मो उ भावमंगलमेत्तो सिद्धि त्ति काऊण।
—दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४४

२५. हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसा।
—दशवै० नि० ४५

२६ सुहदुक्खसंपओगो, न विज्जई निच्चवायपक्खंमि।
एगंतुच्छेअंमि य, सुहदुक्खविगप्पणमजुत्तं॥
—दशवै० नि० ६०

२७ उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा।
—दशवै० नि० १६४

२८. मिच्छत्तं वेयन्तो, जं अन्नाणी कहं परिकहेइ।
लिंगत्थो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए॥
तवसंजमगुणधारी, जं चरणत्था कहिंति सब्भावं।
सव्वजगज्जीवहियं, सा उ कहा देसिया समए॥

१९. जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तप साधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्ममल से मुक्त हो जाता है।

२०. जिस प्रकार कोई चुपचाप लुकछिपकर विष पी लेता है, तो क्या वह उस विष से नही मरेगा ? अवश्य मरेगा। उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है, तो क्या वह उससे दूषित नही होगा ? अवश्य होगा।

२१. जो व्यक्ति धर्म मे दृढ निष्ठा रखता है वस्तुत वही बलवान है, वही शूर वीर है। जो धर्म मे उत्साहहीन है, वह वीर एव बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान है।

२२ जो साधक अध्यात्मभावरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय मे श्रेष्ठ है, वे ही विश्व के सर्वश्रेष्ठ पु डरीक कमल हैं।

२३. कोई कितना ही पापात्मा हो और निश्चय ही उत्कृष्ट नरकस्थिति को प्राप्त करने वाला हो, किन्तु वह भी वीतराग के उपदेश द्वारा उसी भव मे मुक्तिलाभ कर सकता है।

२४. धर्म भावमगल है, इसी से आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है।

२५. हिंसा का प्रतिपक्ष—अहिंसा है।

२६. एकात नित्यवाद के अनुसार सुख दु ख का सयोग सगत नही बैठता और एकात उच्छेदवाद=अनित्यवाद के अनुसार भी सुख दु ख की बात उपयुक्त नही होती। अतः नित्यानित्यवाद ही इसका सही समाधान कर सकता है।

२७. शब्द आदि विषय आत्मा को धर्म से उत्क्रमण करा देते हैं, दूर हटा देते हैं, अत. इन्हे 'काम' कहा है।

२८. मिथ्यादृष्टि अज्ञानी—चाहे वह साधु के वेष मे हो या गृहस्थ के वेष मे, उसका कथन 'अकथा' कहा जाता है।

तप संयम आदि गुणो से युक्त मुनि सद्‌भावमूलक सर्व जग-जीवों के हित के लिये जो कथन करते हैं, उसे 'कथा' कहा गया है।

जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ।
सा उ विकहा पवयणे, पण्णत्ता धीरपुरिसेहिं॥

—दशवै० नि० २०९-१०-११

२९. जीवाहारो भण्णइ आयारो।

—दशवै० नि० २१५

३०. धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥

—दशवै० नि० २६२

३१. जिणवयणंमि परिणए, अवत्थविहिआणुठाणओ धम्मो।
[1]सच्छासयप्पयोगा अत्थो, वीसभओ[2] कामो॥

—दशवै० नि० २६४

३२ वयणविभत्तिअकुसलो, वओगयं बहुविह अयाणंतो।
जइ वि न भासइ किंची, न चेव वयगुत्तय पत्तो॥
वयणविभत्ती कुसलो, वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसं पि भासमाणो, तहावि वयगुत्तय पत्तो॥

—दशवै०नि० २९०-२९१

३३ सद्देसु अ रूवेसु अ, गंधेसु रसेसु तह य फासेसु।
न वि रज्जइ न वि दुस्सइ, एसा खलु इंदिअप्पणिही॥

—दशवै० नि० २९५

३४. जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदिआइं तव चरतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही व तुरंगेहिं॥

—दशवै० नि० २९८

---

1. स्वच्छाशयप्रयोगाद् विशिष्टलोकत, पुण्यबलाच्चार्थ।
2. विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकरणतापेक्षो विश्रम्भेण काम.॥

—इति हारिभद्रीया वृत्तिः।

जो सयमी होते हुये भी प्रमत्त है, वह रागद्वेष के वशवर्ती होकर जो कथा करता है, उसे 'विकथा' कहा गया है।

२९. तप-संयमरूप आचार का मूल आधार आत्मा (आत्मा मे श्रद्धा) ही है।

३०. धर्म, अर्थ, और काम को भले ही अन्य कोई परस्पर विरोधी मानते हो, किंतु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान मे अवतरित होने के कारण परस्पर असपत्न=अविरोधी है।

३१. अपनी अपनी भूमिका के योग्य विहित अनुष्ठान रूप धर्म, स्वच्छ आशय से प्रयुक्त अर्थ, विस्र भयुक्त (मर्यादानुकूल वैवाहिक नियत्रण से स्वीकृत) काम—जिन वाणी के अनुसार ये परस्पर अविरोधी हैं।

३२. जो वचन-कला मे अकुशल है, और वचन की मर्यादाओ से अनभिज्ञ है, वह कुछ भी न बोले, तब भी 'वचनगुप्त' नही हो सकता।

जो वचन-कला मे कुशल है और वचन की मर्यादा का जानकार है, वह दिनभर भाषण करता हुआ भी 'वचनगुप्त' कहलाता है।

३३. शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श मे जिसका चित्त न तो अनुरक्त होता है और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रियनिग्रह प्रशस्त होता है।

३४. जिस साधक की इन्द्रिया. कुमार्गगामिनी हो गई हैं, वह दुष्ट घोडो के वश मे पड़े सारथि की तरह उत्पथ मे भटक जाता है।

३५ जस्स वि अ दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स।
सो बालतवस्सीवि व गयण्हाणपरिस्सम कुणइ॥

—दशवै० नि० ३००

३६. सामन्नमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्लं व निष्फल तस्स सामन्नं॥

—दशवै० नि० ३०१

३७. खतो अ मद्दवऽज्जव विमुत्तया तह अदीणय तितिक्खा।
आवस्सगपरिसुद्धी अ होंति भिक्खुस्स लिंगाइं॥

—दशवै० नि० ३४९

३८. जो भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू।
वण्णेण जुत्तिसुवण्णगं व असइ गुणनिहिम्मि॥

—दशवै० नि० ३५६

३९. जह दीवा दीवसयं, पईप्पए सो य दीप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, अप्प च परं च दीवति॥

—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, ८

४०. जावइया ओदइया सव्वो सो बाहिरो जोगो।

उत्त० नि० ५२

४१. आयरियस्स वि सीसो सरिसो सव्वे हि वि गुणेहिं।

—उत्त० नि० ५८

४२. सुहिओ हु जणो न बुज्झई।

—उत्त० नि० १३५

४३. राइसरिसवमित्ताणि, परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि, पासंतो वि न पाससि!

—उत्त० नि० १४०

४४. मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
इअ पचविहो ऐसो होई पमाओ य अप्पमाओ॥

—उत्त० नि० १८०

३५. जिस तपस्वी ने कषायो को निगृहीत नही किया, वह बाल तपस्वी है। उसके तपरूप मे किये गए सब कायकष्ट गजस्नान की तरह व्यर्थ हैं।

३६. श्रमण धर्म का अनुचरण करते हुए भी जिसके क्रोध आदि कषाय उत्कट हैं, तो उसका श्रमणत्व वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईख का फूल।

३७. क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओ की परिशुद्धि—ये सब भिक्षु के वास्तविक चिन्ह हैं।

३८. जो भिक्षु गुणहीन है, वह भिक्षावृत्ति करने पर भी भिक्षु नही कहला सकता। सोने का झोल चढादेने भर से पीतल आदि सोना तो नही हो सकता।

३९ जिस प्रकार दीपक स्वय प्रकाशमान होता हुआ अपने स्पर्श से अन्य सैंकडो दीपक जला देता है, उसी प्रकार सद्गुरु—आचार्य स्वय ज्ञान ज्योति से प्रकाशित होते हैं एव दूसरो को भी प्रकाशमान करते हैं।

४०. कर्मोदय से प्राप्त होने वाली जितनी भी अवस्थाए हैं वे सब बाह्य भाव हैं।

४१. यदि शिष्य गुणसपन्न है, तो वह अपने आचार्य के समकक्ष माना जाता है।

४२. सुखी मनुष्य प्राय जल्दी नही जग पाता।

४३. दुर्जन दूसरो के राई और सरसो जितने दोष भी देखता रहता है, किंतु अपने विल्व (बेल) जितने बडे दोषो को देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है।

४४ मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा (अर्थहीन रागद्वेषवर्द्धक वार्ता) यह पाच प्रकार का प्रमाद है। इन से विरक्त होना ही अप्रमाद है।

४५. भावंमि उ पव्वज्जा आरंभपरिग्गहच्चाओ ।

—उत्त० नि० २६३

४६ अहिअत्थ निवारितो, न दोसं वत्तुमरिहसि !

—उत्त० नि० २७६

४७. भद्दएणेव होअव्वं पावइ भद्दाणि भद्दओ ।
सविसो हम्मए सप्पो, भेरुडो तत्थ मुच्चइ ।

—उत्त० नि० ३२६

४८. जो भिंदेइ खुह खलु, सो भिक्खू भावओ होइ ।

—उत्त० नि० ३७५

४९. नाणी संजमसहिओ नायव्वो भावओ समणो ।

—उत्त० नि० ३८९

५०. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।

—आवश्यक निर्युक्ति, ९२

५१. वाएण विणा पोओ, न चएइ महण्णवं तरिउं ।

—आव० नि० ९५

५२. निउणो वि जीवपोओ, तवसंजममारुअविहूणो ।

—आव० नि० ९६

५३. चरणगुणविप्पहीणो, वुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो ।

—आव० नि० ९७

५४ सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ॥

—आव० नि० ९८

५५. अप्पं पि सुयमहीयं, पयासयं होइ चरणजुत्तस्स ।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्सा पयासेइ ॥

—आव० नि० ९९

४५. हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुत भाव प्रव्रज्या है।

४६. बुराई को दूर करने की दृष्टि से यदि आलोचना की जाये तो कोई दोष नही है।

४७. मनुष्य को भद्र (सरल) होना चाहिए, भद्र को ही कल्याण की प्राप्ति होती है। विषधर साप ही मारा जाता है, निर्विष को कोई नही मारता।

४८. जो मन की भूख (तृष्णा) का भेदन करता है,वही भाव रूप मे भिक्षु है।

४९. जो ज्ञानपूर्वक सयम की साधना मे रत है, वही भाव (सच्चा) श्रमण है।

५० तीर्थंकर की वाणी अर्थ (भाव) रूप होती है, और निपुण गणधर उसे सूत्र-वद्ध करते हैं।

५१. अच्छे से अच्छा जलयान भी हवा के विना महासागर को पार नही कर सकता।

५२. शास्त्रज्ञान मे कुशल साधक भी तप, सयम रूप पवन के विना संसार सागर को तैर नही सकता।

५३. जो साधक चरित्र के गुण से हीन है, वह वहुत से शास्त्र पढ लेने पर भी ससार समुद्र मे डूब जाता है।

५४. शास्त्रो का वहुत सा अध्ययन भी चरित्र-हीन के लिए किस काम का ? क्या करोडो दीपक जला देने पर भी अंधे को कोई प्रकाश मिल सकता है ?

५५ शास्त्र का थोड़ा-सा अध्ययन भी सच्चरित्र साधक के लिए प्रकाश देने वाला होता है। जिस की आंखें खुली हैं उस को एक दीपक भी काफी प्रकाश दे देता है।

५६ जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सोग्गईए ॥

—आव० नि० १००

५७. हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ॥

—आव० नि० १०१

५८ संजोगसिद्धीइ फलं वयंति,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ।

—आव० नि० १०२

५९ णाणं पयासगं, सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥

—आव० नि० १०३

६० केवलियनाणलंभो, नन्नत्थ खए कसायाणं ।

— आव० नि० १०४

६१. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
ण हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु ते वहु होइ ॥

—आव० नि० १२०

६२. तित्थपणामं काउं, कहेइ साहारणेण सद्देणं ।

—आव० नि० ५६७

६३ भासतो होइ जेट्ठो, नो परियाएण तो वन्दे ।

आव० नि० ७०४

६४. सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।

—आव० नि० ८०२

५६ चंदन का भार उठाने वाला गधा सिर्फ भार ढोने वाला है, उसे चदन की सुगध का कोई पता नही चलता। इसी प्रकार चरित्र-हीन ज्ञानी सिर्फ ज्ञान का भार ढोता है, उसे सद्गति प्राप्त नही होती।

५७ आचार-हीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान-हीन आचार। जैसे वन मे अग्नि लगने पर पगु उसे देखता हुआ और अंधा दौडता हुआ भी आग से वचन ही पाता, जलकर नष्ट हो जाता है।

५८. सयोगसिद्धि (ज्ञान क्रिया का सयोग) ही फलदायी (मोक्ष रूप फल देने वाला) होता है। एक पहिए से कभी रथ नही चलता। जैसे अध और पगु मिलकर वन के दावानल से पार होकर नगर मे सुरक्षित पहुंच गए, इसी प्रकार साधक भी ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मुक्ति-लाभ करता है।

५९ ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप विशुद्धि एव सयम पापो का निरोध करता है। तीनो के समयोग से ही मोक्ष होता है—यही जिनशासन का कथन है।

६० क्रोधादि कषायो को क्षय किए विना केवल ज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति नही होती।

६१ ऋण, व्रण (घाव), अग्नि और कषाय—यदि इनका थोडा सा अश भी है तो, उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए। ये अल्प भी समय पर वहुत (विस्तृत) हो जाते हैं।

६२ तीर्थंकर देव प्रथम तीर्थ (उपस्थित सघ) को प्रणाम करके फिर जन-कल्याण के लिए लोकभाषा मे उपदेश करते हैं।

६३ शास्त्र का प्रवचन (व्याख्यान) करने वाला वड़ा है, दीक्षा-पर्याय मे कोई वडा नही होता। अत पर्यायज्येष्ठ भी अपने कनिष्ठ शास्त्र के व्याख्याता को नमस्कार करें।

६४ सामायिक की साधना करता हुआ श्रावक भी श्रमण के तुल्य हो जाता है।

६५. जो ण वि वट्टइ रागे, ण वि दोसे दोण्हमज्झयारंमि।
सो होइ उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था॥
—आव० नि० ८०४

६६. दिट्ठीय दो णाया खलु, ववहारो निच्छओ चेव।
—आव० नि० ८१५

६७. ण कुणइ पारत्तहियं, सो सोयइ सकमरणकाले।
—आव० नि० ८३७

६८ तं तह दुल्लहलंभं, विज्जुलया चचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥
—आव० नि० ८४१

६९ दव्वुज्जोउज्जोओ, पगासई परिमियम्मि खित्त मि।
भावुज्जोउज्जोओ, लोगालोगं पगासेइ॥
—आव० नि० १०६९

७० कोहमि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं।
लोहमि उ निग्गहिए, तण्हावुच्छेअण होइ॥
—आव० नि० १०७४

७१. जियकोहमाणमाया, जियलोहा तेण ते जिणा हुंति।
अरिणो हता, रयं हता, अरिहता तेण वुच्चंति॥
—आव० नि० १०८३

७२. मिच्छत्तमोहणिज्जा, नाणावरणा चरित्तमोहाओ।
तिविहतमा उम्मुक्का, तम्हा ते उत्तमा हुंति॥
—आव० नि० ११००

७३. जं तेहिं दायव्वं, तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो॥
—आव० नि० ११०३

७४ जह नाम महुरसलिलं, सायरसलिलं कमेण सपत्तं।
पावेइ लोणभावं, मेलणदोसाणुभावेण॥
एवं खु सीलवंतो, असीलवतेहिं मीलिओ सतो।
हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ॥
— आव० नि० ११२७-२८

६५ जो न राग करता है, न द्वेष करता है, वही वस्तुत मध्यस्थ है, बाकी सब अमध्यस्थ हैं।

६६ जैन दर्शन मे दो नय (विचार-दृष्टियाँ) हैं—निश्चयनय और व्यवहार-नय।

६७. जो इस जन्म मे परलोक की हितसाधना नही करता, उसे मृत्यु के समय पछताना पडता है।

६८ जो बडी मुश्किल से मिलता है, बिजली की चमक की तरह चचल है, ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी जो धर्म साधना मे प्रमत्त रहता है, वह कापुरुष (अधम पुरुष) ही है, सत्पुरुष नही।

६९. सूर्य आदि का द्रव्य प्रकाश परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किंतु ज्ञान का प्रकाश तो समस्त लोकालोक को प्रकाशित करता है।

७० क्रोध का निग्रह करने से मानसिक दाह (जलन) शात होती है, लोभ का निग्रह करने से तृष्णा शात हो जाती है—इसलिये धर्म ही सच्चा तीर्थ है।

७१. क्रोध, मान, माया और लोभ को विजय कर लेने के कारण 'जिन' कहलाते हैं। कर्मरूपी शत्रुओ का तथा कर्म रूप रज का हनन=नाश करने के कारण अरिहत कहे जाते है।

७२ मिथ्यात्व-मोह, ज्ञानावरण और चारित्र-मोह—ये तीन प्रकार के तम (अधकार) हैं। जो इन तमो=अधकारो से उन्मुक्त है, उसे उत्तम कहा जाता है।

७३ तीर्थंकरो ने जो कुछ देने योग्य था, वह दे दिया है, वह समग्र दान यही है— दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश।

७४. जिस प्रकार मधुर जल, समुद्र के खारे जल के साथ मिलने पर खारा हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारी पुरुष दुराचारियो के ससर्ग मे रहने के कारण दुराचार मे दूषित हो जाता है।

७५. न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती ।

—आव० नि० ११५१

७६. जाणतोऽवि य तरिउं, काइयजोग न जुंजइ नईए ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो ॥

—आव० नि० ११५४

७७ जह जह सुज्झइ सलिलं, तह तह रुवाइ पासई दिट्ठी ।
इय जह जह तत्तरुई, तह तह तत्तागमो होइ ॥

—आव० नि० ११६३

७८. सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमेऽवि धारेइ ।
इय सालंबणसेवा, धारेइ जइं असढभावं ॥

—आव० नि० ११८०

७९. जह दूओ रायाणं, णमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा ।
वीसज्जिओवि वंदिय, गच्छइ साहूवि एमेव ॥

—आव० नि० १२३४

८०. अइनिद्धेण विसया उइज्जंति ।

— आव० नि० १२६३

८१. थोवाहारो थोवभणिओ य, जो होइ थोवनिद्दो य ।
थोवोवहि-उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥

—आव० नि० १२६५

८२. चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।

—आव० नि० १४५९

८३. अन्न इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयवुद्धी ।
दुक्ख-परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥

—आव० नि० १५४७

७५ जान लेने मात्र से कार्य की सिद्धि नही हो जाती।

७६ तैरना जानते हुए भी यदि कोई जलप्रवाह मे कूद कर कायचेष्टा न करे, हाथ पाव हिलाए नही, तो वह प्रवाह मे डूब जाता है। धर्म को जानते हुए भी यदि कोई उस पर आचरण न करे तो वह ससारसागर को कैसे तैर सकेगा ?

७७. जल ज्यो-ज्यो स्वच्छ होता है त्यो-त्यो द्रष्टा उसमे प्रतिविम्बित रूपो को स्पष्टतया देखने लगता है। इसी प्रकार अन्तर् मे ज्यो ज्यो तत्त्व रुचि जाग्रत होती है, त्यो त्यो आत्मा तत्त्वज्ञान प्राप्त करता जाता है।

७८. किसी आलबन के सहारे दुर्गम गर्त आदि मे नीचे उतरता हुआ व्यक्ति अपने को सुरक्षित रख सकता है। इसी प्रकार ज्ञानादिवर्धक किसी विशिष्ट हेतु का आलवन लेकर अपवाद मार्ग मे उतरता हुआ सरलात्मा साधक भी अपने को दोष से वचाए रख सकता है।

७९ दूत जिस प्रकार राजा आदि के समक्ष निवेदन करने से पहले भी और पीछे भी नमस्कार करता है, वैसे है शिष्य को भी गुरुजनो के समक्ष जाते और आते समय नमस्कार करना चाहिए।

८० अतिस्निग्ध आहार करने से विषयकामना उद्दीप्त हो उठती है।

८१. जो साधक थोडा खाता है, थोडा वोलता है, थोडी नीद लेता है और थोडी ही धर्मोपकरण की सामग्री रखता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

८२ किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर—एकाग्र करना ध्यान है।

८३. 'यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है।' साधक इस तत्त्वबुद्धि के द्वारा दुःख एव क्लेशजनक शरीर की ममता का त्याग करे।

८४ जे जत्तिआ अ हेउ भवस्स, ते चेव तत्तिआ मुक्खे।

—ओघनिर्युक्ति ५३

८५ इरिआवहमाईआ, जे चेव हवंति कम्मबंधाय।
अजयाण ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय॥

—ओघ० नि० ५४

८६ एगतेण निसेहो, जोगेसु न देसिओ विही वाऽवि।
दलिअ पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे॥

—ओघ० नि० ५५

८७ अणुमित्तो वि न कस्सई, बंधो परवत्थुपच्चओ भणिओ।

—ओघ० नि० ५७

८८ मुत्तनिरोहेण चक्खू, वच्चनिरोहेण जीविय चयइ।

—ओघ० नि० १९७

८९ हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाण ते तिगिच्छगा॥

ओघ० नि० ५७८

९० अतिरेग अहिगरणं।

—ओघ० नि० ७४१

९१ अज्झत्थविसोहीए, उवगरणं बाहिर परिहरंतो।
अप्परिग्गही त्ति भणिओ, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥

—ओघ० नि० ७४५

९२ अज्झत्थ विसोहीए, जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्तं, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥

—ओघ० नि० ७४७

९३ उच्चालियंमि पाए,
ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी,
मरिज्ज तं जोगमासज्ज॥

८४ जो और जितने हेतु ससार के है, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के हैं ।

८५. जो ईर्यापथिक (गमनागमन) आदि क्रियाएँ असयत के लिए कर्मबंध का कारण होती हैं, वे ही यतनाशील के लिए मुक्ति का कारण बन जाती हैं ।

८६. जिन शासन मे एकात रूप से किसी भी क्रिया का न तो निषेध है, और न विधान ही है । परिस्थिति को देखकर ही उनका निषेध या विधान किया जाता है, जैसा कि रोग मे चिकित्सा के लिए ।

८७. वाह्य वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्मवध नही होता । (कर्मवध अपनी भावना के आधार पर ही होता है) ।

८८. अत्यधिक मूत्र के वेग को रोकने से आँखें नष्ट हो जाती है और तीव्र मल-वेग को रोकने से जीवन ही नष्ट हो जाता है ।

८९ जो मनुष्य हिताहारी हैं, मिताहारी हैं और अल्पाहारी हैं, उन्हे किसी वैद्य से चिकित्सा करवाने की आवश्यकता नही, वे स्वय ही अपने वैद्य हैं, चिकित्सक हैं ।

९०. आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण (सामग्री) अधिकरण ही (क्लेशप्रद एव दोषरूप) हो जाते है ।

९१ जो साधक वाह्य उपकरणो को अध्यात्म विशुद्धि के लिये धारण करता है, उसे त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवो ने अपरिग्रही ही कहा है ।

९२ त्रिलोकदर्शी जिनेश्वर देवो का कथन है कि अनेकानेक जीवसमूहों से परिव्याप्त विश्व मे साधक का अहिसकत्व अन्तर मे अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, वाह्य हिसा या अहिसा की दृष्टि से नही ।

९३. कभी-कभार ईर्यासमित साधु के पैर के नीचे भी कीट, पतग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दव कर मर भी जाते हैं—

न य तस्स तन्निमित्तो,
बंधो सुहुमोवि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण,
सव्वभावेण सो जम्हा ॥

—ओघ० नि० ७४८-४९

९४ जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोग पडुच्च जे सत्ता।
वावज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ॥
जे वि न वावज्जती, नियमा तेसिं पि हिंसओ सो उ।
सावज्जो उ पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा॥

—ओघ० नि० ७५२-५३

९५ आया चेव अहिंसा, आया हिंस त्ति निच्छओ एसो।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥

—ओघ० नि० ७५४

९६. न य हिंसामेत्तेण, सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स उ संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं॥

—ओघ० नि० ७५८

९७ जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स॥

—ओघ० नि० ७५९

९८ निच्छयमवलवता, निच्छयतो निच्छयं अयाणंता।
नासंति चरणकरणं, बाहिरकरणालसा केइ॥

—ओघ० नि० ७६१

९९ सुचिर पि अच्छमाणो,
वेरुलिओ कायमणिओमीसे।
न य उवेइ कायभावं,
पाहन्नगुणेण नियएण॥

—ओघ० नि० ७७२

परंतु उक्त हिंसा के निमित्त से उस साधु को सिद्धान्त मे सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नही बताया है, क्योंकि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन उस हिंसा-व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण अनवद्य=निष्पाप है।

९४ जो प्रमत्त व्यक्ति है, उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मरजाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है।

परन्तु जो प्राणी नही मारे गये हैं, वह प्रमत्त उनका भी हिंसक ही है, क्यो कि वह अन्तर मे सर्वतोभावेन हिंसावृत्ति के कारण सविद्य हैं, पापात्मा है।

९५ निश्चय दृष्टि से आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा। जो प्रमत्त है वह हिंसक है और जो अप्रमत्त है वह अहिंसक।

९६. केवल बाहर मे दृश्यमान पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नही हो जाता। यदि साधक अन्दर मे रागद्वेष से रहित शुद्ध है, तो जिनेश्वर देवो ने उसकी बाहर की हिंसा को कर्मबंध का हेतु न होने से निष्फल बताया है।

९७ जो यतनावान् साधक अन्तराविशुद्धि से युक्त है, और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा होने वाली विराधना (हिंसा) भी कर्मनिर्जरा का कारण है।

९८ जो निश्चयदृष्टि के आलम्बन का आग्रह तो रखते हैं, परन्तु वस्तुत उसके सम्बन्ध मे कुछ जानते-बूझते नही हैं। वे सदाचार की व्यवहार-साधना के प्रति उदासीन हो जाते हैं, और इस प्रकार सदाचार को ही मूलतः नष्ट कर डालते हैं।

९९ वैडूर्यरत्न काच की मणियो मे कितने ही लम्बे समय तक क्यों न मिला रहे, वह अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण रत्न ही रहता है, कभी काच नही होता। (सदाचारी उत्तम पुरुष का जीवन भी ऐसा ही होता है)।

१०० जह् वालो जंपतो,
कज्जमकज्ज व उज्जुय भणइ ।
तं तह् आलोएज्जा,
मायामयविप्पमुक्को उ ॥

—ओघ० नि० ८०१

१०१ उद्धरिय सव्वसल्लो,
आलोइय निंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अतिरेगलहुओ,
ओहरियभरो व्व भारवहो ॥

—ओघ० नि० ८०६

१००. बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरल भाव से कह देता है। इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनो के समक्ष दभ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचन करना चाहिये।

१०१. जो साधक गुरुजनो के समक्ष मन के समस्त शल्यो (काटो) को निकाल कर आलोचना, निदा (आत्मनिदा) करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हलकी हो जाती है जैसे शिर का भार उतार देने पर भारवाहक।

आचार्य कुन्दकुन्द की सूक्तियाँ

●

१. तह ववहारेण विणा, परमत्थुवएसणमसक्कं ।

समयसार, ८

२. भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।

समय० ११

३. ववहारणयो भासदि, जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदापि एकट्ठो ॥

समय० २७

४. णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि,
रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते,
ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥

—समय० ३०

५ उवओग एव अहमिक्को ।

—समय० ३७

६. अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदा रूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥

—समय० ३८

आचार्य कुन्दकुन्द की सूक्तियां

●

१. व्यवहार (नय) के विना परमार्थ (शुद्ध आत्मतत्त्व) का उपदेश करना अशक्य है।

२ जो भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ—शुद्ध दृष्टि का अवलम्बन करता है, वही सम्यग् दृष्टि है।

३ व्यवहार नय से जीव (आत्मा) और देह एक प्रतीत होते हैं, किंतु निश्चय दृष्टि से दोनो भिन्न हैं, कदापि एक नही हैं।

४ जिस प्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन नही होता, उसी प्रकार शरीर के गुणो का वर्णन करने से शुद्धात्मस्वरूप केवल ज्ञानी के गुणो का वर्णन नही हो सकता।

५ मैं (आत्मा) एक मात्र उपयोगमय = ज्ञानमय हूं।

६. आत्म द्रष्टा विचार करता है कि—"मैं तो शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, सदा काल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूं। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नही है।"

७. णिच्छयणयस्स एव आदा अप्पाणमेव हि करोदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताण ॥

—समय० ८३

८. अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।

—समय० ९२

९ कम्ममसुहं कुसीलं,
सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं,
जं संसारं पवेसेदि ॥

—समय० १४५

१०. रत्तो वंधदि कम्मं, मु चदि जीवो विरागसपत्तो।

—समय० १५०

११. वदणियमाणि धरंता, सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठवाहिरा जे, णिव्वाणं ते ण विदंति ॥

—समय० १५३

१२. जह कणयमग्गितविय पि,
कणयभाव ण त परिच्चयइ।
तह कम्मोदयतविदो,
ण जहदि णाणी दु णाणित्त

—समय० १८४

१३. पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फल बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे, पडिए ण पुणोदयमुवेइ ॥

—समय० १६८

१४. सुद्ध तु वियाणंतो, सुद्ध चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणतो दु असुद्ध, असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥

—समय० १८६

१५. जं कुणदि सम्मदिट्ठी, त सव्वं णिज्जरणिमित्त।

—समय० १९३

७. निश्चय दृष्टि से तो आत्मा अपने को ही करता है, और अपने को ही भोगता है।

८ अज्ञानी आत्मा ही कर्मों का कर्ता होता है।

६ अशुभ कर्म बुरा (कुशील) और शुभ कर्म अच्छा (सुशील) है, यह साधारण जन मानते हैं। किंतु वस्तुतः जो कर्म प्राणी को संसार मे परिभ्रमण कराता है, वह अच्छा कैसे हो सकता है ? अर्थात् शुभ या अशुभ सभी कर्म अन्तत हेय ही हैं।

१०. जीव, रागयुक्त होकर कर्म बाधता है और विरक्त होकर कर्मो से मुक्त होता है।

११ भले ही व्रत नियम को धारण करे, तप और शील का आचरण करे, किंतु जो परमार्थरूप आत्मबोध से शून्य है, वह कभी निर्वाण प्राप्त नही कर सकता।

१२ जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोडता, वैसे ही ज्ञानी भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को नही छोडते।

१३. जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुन. वृन्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुन. आत्मा (वीतराग) को नही लग सकते।

१४ जो अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है वह शुद्ध भाव को प्राप्त करता है, और जो अशुद्ध रूप का अनुभव करता है वह अशुद्ध भाव को प्राप्त होता है।

१५ सम्यग् दृष्टि आत्मा जो कुछ भी करता है, वह उसके कर्मों की निर्जरा के लिए ही होता है।

१६ जह विसमुवभुंजंतो, वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदय, तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी॥
—समय० १६५

१७. सेवंतो वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो कोई।
—समय० १६७

१८. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो।
—समय० २१२

१६ णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणय॥
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोह॥
—समय० २१८-२१६

२०. जो अप्पणा दु मण्णदि, दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो॥
—समय० २५३

२१ ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।
—समय० २६५

२२. आदा खु मज्झ णाण, आदा मे दसण चरित्त च।
—समय० २७७

२३. कह सो घिप्पइ अप्पा ? पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा।
—समय० २६६

२४. जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्सको दु जणवए भमदि
—समय० ३०२

१६ जिस प्रकार वैद्य (औषध रूप मे) विष खाता हुआ भी विष से मरता नही, उसी प्रकार सम्यग् दृष्टि आत्मा कर्मोदय के कारण सुख दुख का अनुभव करते हुए भी उनसे वद्ध नही होता।

१७ ज्ञानी आत्मा (अतर् मे रागादि का अभाव होने के कारण) विषयो का सेवन करता हुआ भी, सेवन नही करता। अज्ञानी आत्मा (अन्तर् मे रागादि का भाव होने के कारण) विषयो का सेवन नही करता हुआ भी, सेवन करता है।

१८. वास्तव मे अनिच्छा (इच्छामुक्ति) को ही अपरिग्रह कहा है।

१९ जिस प्रकार कीचड मे पडा हुआ सोना कीचड से लिप्त नही होता, उसे जग नही लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी ससार के पदार्थसमूह मे विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नही होता।

किंतु जिस प्रकार लोहा कीचड में पडकर विकृत हो जाता है, उसे जग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थो मे राग भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है।

२० जो ऐसा मानता है कि "मैं दूसरो को दु खी या सुखी करता हूँ"—वह वस्तुत अज्ञानी है। ज्ञानी ऐसा कभी नही मानते।

२१ कर्मवध वस्तु से नही, राग और द्वेष के अध्यवसाय—सकल्प से होता है।

२२ मेरा अपना आत्मा ही ज्ञान (ज्ञानरूप) है, दर्शन है और चारित्र है।

२३ यह आत्मा किस प्रकार जाना जा सकता है ?
आत्मप्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान रूप बुद्धि से ही जाना जा सकता है।

२४. जो किसी प्रकार का अपराध नही करता, वह निर्भय होकर जनपद मे भ्रमण कर सकता है। इसी प्रकार निरपराध=निर्दोष आत्मा (पाप नही करने वाला) भी सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है।

२५. ण मुयइ पयडिमभव्वो, सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिवंता, ण पण्णया णिव्विसा हुंति॥
—समय० ३१७

२६. सत्थं णाणं ण हवइ, जम्हा सत्थं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं, अण्णं सत्थं जिणा विंति॥
—समय० ३६०

२७ चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥
—प्रवचनसार १।७

२८ आदा धम्मो मुणेदव्वो।
—प्रवचन० १।८

२९ जीवो परिणमदि जदा,
सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो
हवदि हि परिणामसब्भावो।
—प्रवचन० १।९

३० णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
—प्रवचन० १।१०

३१ समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।
—प्रवचन० १।१४

३२ आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥
—प्रवचन० १।२३

३३. तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति?
—प्रववन० १।६७

३४ सपरं बाधासहियं, विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इन्दियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥
—प्रवचन० १।७६

२५. अभव्य जीव चाहे कितने ही शास्त्रो का अध्ययन कर ले, किंतु फिर भी वह अपनी प्रकृति (स्वभाव) नही छोडता। साप चाहे कितना ही गुड-दूध पी ले, किंतु अपना विषैला स्वभाव नही छोड़ता।

२६. शास्त्र, ज्ञान नही है, क्योकि शास्त्र स्वय मे कुछ नही जानता है। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है।

२७. चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, और जो धर्म है, वह समत्व है। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है।

२८ आत्मा ही धर्म है, अर्थात् धर्म आत्मस्वरूप होता है।

२९ आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, इसलिए जब वह शुभ या अशुभ भाव मे परिणत होता है, तब वह शुभ या अशुभ हो जाता है। और जब शुद्ध भाव मे परिणत होता है, तब वह शुद्ध होता है।

३० कोई भी पदार्थ विना परिणमन के नही रहता है, और परिणमन भी विना पदार्थ के नही होता है।

३१ जो सुख दु ख मे समान भाव रखता है, वही वीतराग श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है।

३२ आत्मा ज्ञानप्रमाण (ज्ञान जितना) है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (ज्ञेय जितना) है, और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इस दृष्टि से ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है।

३३. जिसकी दृष्टि ही स्वय अधकार का नाश करने वाली है, उसे दीपक क्या प्रकाश देगा ? इसी प्रकार जव आत्मा स्वय सुख-रूप है तो, उसे विषय क्या सुख देंगे ?

३४ जो सुख इन्द्रियो से प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधासहित, विच्छिन्न, बंध का कारण तथा विषम होने से वस्तुत सुख नही, दु ख ही है।

३५. किरिया हि णत्थि अफला, धम्मो जदि णिप्फलो परमो।

—प्रवचन० २।२४

३६. असुहो मोह-पदोसो, सुहो व असुहो हवदि रागो।

—प्रवचन० २।८८

३७ कीरदि अज्झवसाण, अह ममेदं ति मोहादो।

—प्रवचन० २।९१

३८ मरदु व जियदु व जीवो,
अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो,
हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

—प्रवचन० ३।१७

३९. चरदि जदं जदि णिच्चं, कमल व जले णिरुवलेवो।

—प्रवचन० ३।१८

४० ण हि णिरवेक्खो चागो,
ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स हि चित्ते,
कह णु कम्मक्खओ होदि ॥

—प्रवचन० ३।२०

४१ इहलोगणिरावेक्खो,
अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहार-विहारो,
रहिदकसाओ हवे समणो ॥

—प्रवचन० ३।२६

४२ जस्स अणेसणमप्पा त पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णा भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥

—प्रवचन ३।२७

४३. आगमहीणो समणो, णेवप्पाण पर वियाणादि।

—प्रवचन० ३।३२

३५ संसार की कोई भी मोहात्मक क्रिया निष्फल (वंधनरहित) नही है, एक मात्र धर्म ही निष्फल है, अर्थात् स्व-स्वभाव रूप होने से बन्धन का हेतु नही है।

३६ मोह और द्वेष अशुभ ही होते हैं, राग शुभ और अशुभ दोनो होता है।

३७. मोह के कारण ही मैं और मेरे का विकल्प होता है।

३८ वाहर मे प्राणी मरे या जीये, अयताचारी—प्रमत्त को अन्दर मे हिंसा निश्चित है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवाला है, उसको वाहर मे प्राणी की हिंसा होने मात्र से कर्मवन्ध नही है, अर्थात् वह हिंसा नही है।

३९. यदि साधक प्रत्येक कार्य यतना से करता है, तो वह जल मे कमल की भांति निर्लेप रहता है।

४० जव तक निरपेक्ष त्याग नही होता है, तव तक साधक की चित्तशुद्धि नही होती है। और जव तक चित्तशुद्धि (उपयोग की निर्मलता) नही होती है, तव तक कर्मक्षय कैसे हो सकता है?

४१ जो कषायरहित है, इस लोक से निरपेक्ष है, परलोक मे भी अप्रतिवद्ध —अनासक्त है, और विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।

४२ परवस्तु की आसक्ति से रहित होना ही, आत्मा का निराहाररूप वास्तविक तप है। अस्तु, जो श्रमण भिक्षा मे दोषरहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चय दृष्टि से अनाहार (तपस्वी) ही है।

४३ शास्त्रज्ञान से शून्य श्रमण न अपने को जान पाता है, न पर को।

४४. आगम चक्खू साहू,
इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।

—प्रवचन० ३।३४

४५ जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥[1]

—प्रवचन० ३।३८

४६ कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो ।

—नियमसार १८

४७. जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।

—नियम० ४७

४८. झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥

—नियम० ९३

४९. केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी ।

—नियम० ९६

५०. आलंवणं च मे आदा ।

—नियम० ९९

५१. एगो मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥[2]

—नियम० १०२

५२. सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं न केणइ ।

—नियम० १०४

५३. कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।

—नियम० ११०

---

१. महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, १०१
२ आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक, २६

४४ अन्य सब प्राणी इन्द्रियो की आख वाले हैं, किन्तु साधक आगम की आँख वाला है।

४५ अज्ञानी साधक बाल तप के द्वारा लाखो-करोडो जन्मो मे जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन, वचन काया को सयत रखने वाला ज्ञानी साधक एक श्वास मात्र मे खपा देता है।

४६ आत्मा पुद्गल कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता है, यह मात्र व्यवहार दृष्टि है।

४७. जैसी शुद्ध आत्मा सिद्धो (मुक्त आत्माओ) की है, मूल स्वरूप से वैसी ही शुद्ध आत्मा ससारस्थ प्राणियो की है।

४८ ध्यान मे लीन हुआ साधक सब दोषो का निवारण कर सकता है। इसलिए ध्यान ही समग्र अतिचारो (दोषो) का प्रतिक्रमण है।

४९ "मैं केवल शक्तिस्वरूप हूँ"—ज्ञानी ऐसा चिंतन करे।

५०. मेरा अपना आत्मा ही मेरा अपना एकमात्र आलवन है।

५१ ज्ञान-दर्शन स्वरूप मेरा आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, इससे भिन्न जितने भी (राग द्वेष, कर्म, शरीर आदि) भाव हैं, वे सब सयोगजन्य वाह्य भाव हैं, अत वे मेरे नही हैं।

५२. सब प्राणियो के प्रति मेरा एक जैसा समभाव है, किसी से मेरा वैर नही है।

५३. कर्मवृक्ष के मूल को काटने वाला आत्मा का अपना ही निजभाव (समत्व) है।

५४. जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ।

—नियम० १२३

५५ अन्तर-वाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ वहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥

—नियम० १५०

५६. अप्पाण विणु णाणं, णाण विणु अप्पगो न संदेहो ।

—नियम० १७१

५७. दव्वं सल्लक्खणयं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।

—पंचास्तिकाय १०

५८ दव्वेण विणा न गुणा, गुणेहि दव्वं विणा न संभवदि ।

—पंचास्ति० १३

५९. भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।

—पंचास्ति० १५

६०. चारित्तं समभावो ।

—पंचास्ति० १०७

६१. सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पाव त्ति हवदि जीवस्स ।

—पंचास्ति० १३२

६२. रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं, पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥

—पंचास्ति० १३५

६३. चरिया पमादवहुला, कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो, पावस्स य आसवं कुणदि ॥

—पंचास्ति० १३९

६४ जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं, समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥

—पंचास्ति० १४२

५४. जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परम समाधि की प्राप्ति होती है।

५५ जो अन्दर एव बाहिर के जल्प (वचनविकल्प) मे रहता है वह बहिरात्मा है। और जो किसी भी जल्प मे नही रहता, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

५६. यह निश्चित सिद्धान्त है कि आत्मा के विना ज्ञान नही, और ज्ञान के विना आत्मा नही।

५७ द्रव्य का लक्षण सत् है, और वह सदा उत्पाद, व्यय एव ध्रुवत्व भाव से युक्त होता है।

५८. द्रव्य के विना गुण नही होते हैं और गुण के विना द्रव्य नही होते।

५९. भाव (सत्) का कभी नाश नही होता और अभाव (असत्) का कभी उत्पाद (जन्म) नही होता।

६०. समभाव ही चारित्र है।

६१ आत्मा का शुभ परिणाम (भाव) पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।

६२ जिस का राग प्रशस्त है, अन्तर् मे अनुकपा की वृत्ति है और मन मे कलुष भाव नही है, उस जीव को पुण्य का आश्रव होता है।

६३. प्रमादबहुल चर्या, मन की कलुषता, विषयो के प्रति लोलुपता, पर-परिताप (परपीडा) और परनिंदा—इन से पाप का आश्रव (आगमन) होता है।

६४. जिस साधक का किसी भी द्रव्य के प्रति राग, द्वेष और मोह नही है, जो सुख दु ख मे समभाव रखता है, उसे न पुण्य का आश्रव होता है और न पाप का।

६५ दंसणमूलो धम्मो ।

—दर्शन पाहुड, २

६६. दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।

—दर्शन० २

६७ तस्स य दोस कहता, भग्गा भग्गत्तणं दिंति ।

—दर्शन० ६

६८ मूलविणट्ठा ण सिज्झति ।

—दर्शन० १०

६९ अप्पाणं हवइ सम्मत्त ।

—दर्शन० २०

७० सोवाण पढम मोक्खस्स ।

—दर्शन० २१

७१. णाणं णरस्स सारो ।

—दर्शन० ३१

७२ हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ।

—सूत्रपाहुड ५

७३ गाहेण अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल-अत्थेण ।

—सूत्र० २७

७४ जं देइ दिक्ख सिक्खा, कम्मक्खयकारणे सुद्धा ।

—बोध पाहुड १६

७५ धम्मो दयाविसुद्धो ।

—बोध० २५

७६. तणकणए समभावा, पव्वज्जा एरिसा भणिया ।

—बोध० ४७

६५. धर्म का मूल दर्शन—(सम्यक् श्रद्धा) है।

६६. जो दर्शन मे हीन—(सम्यक् श्रद्धा से रहित, या पतित) है, वह वन्दनीय नही है।

६७. धर्मात्मा पुरुष के प्रति मिथ्या दोष का आरोप करने वाला, स्वय भी भ्रष्ट—पतित होता है और दूसरो को भी भ्रष्ट—पतित करता है।

६८. सम्यक्त्व रूप मूल के नष्ट हो जाने पर मोक्षरूप फल की प्राप्ति नही होती।

६९. निश्चय दृष्टि से आत्मा ही सम्यक्त्व है।

७०. सम्यग् दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) मोक्ष की पहली सीढी है।

७१. ज्ञान मनुष्यजीवन का सार है।

७२. जो हेय और उपादेय को जानता है, वही वास्तव मे सम्यग् दृष्टि है।

७३. ग्राह्य वस्तु मे से भी अल्प (आवश्यकतानुसार) ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे समुद्र के अथाह जल मे से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प ही जल ग्रहण किया जाता है।

७४. आचार्य वह है—जो कर्म को क्षय करने वाली शुद्ध दीक्षा और शुद्ध शिक्षा देता है।

७५. जिसमे दया की पवित्रता है, वही धर्म है।

७६ तृण और कनक (सोना) मे जब समान बुद्धि रहती है, तभी उसे प्रव्रज्या (दीक्षा) कहा जाता है।

७७. जह णवि लहदि हु लक्ख,
रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्ख,
अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥

—बोध० २१

७८ भावो कारणभूदो, गुणदोसाण जिणा विंति ।

—भाव पाहुड २

७९. भावरहिओ न सिज्झइ ।

—भाव० ४

८० वाहिरचाओ विहलो, अब्भतरगंथजुत्तस्स ।

—भाव० १३

८१. अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो ।

—भाव० ३१

८२ दुज्जणवयणचडक्कं, णिट्ठुर कडुय सहंति सप्पुरिसा ।

—भाव० १०७

८३. परिणामादो वधो, मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।

—भाव० ११६

८४ छिंदति भावसमणा, झाणकुठारेहिं भवरुक्ख ।

—भाव० १२२

८५ तह रायानिलरहिओ, झाणपईवो वि पज्जलई ।

—भाव० १२३

८६. उत्थरइ जा ण जरओ, रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं ।
इन्दियवलं न वियलइ, ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥

—भाव० १३२

८७. जीवविमुक्को सवओ, दसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो, लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥

—भाव० १४३

७७ जिस प्रकार धनुर्धर वाण के विना लक्ष्यवेध नही कर सकता है, उसी प्रकार साधक भी विना ज्ञानके मोक्ष के लक्ष्यको नही प्राप्त कर सकता।

७८. गुण और दोष के उत्पन्न होने का कारण भाव ही है।

७९ भाव (भावना) से शून्य मनुष्य कभी सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

८० जिस के आभ्यन्तर मे ग्रन्थि (परिग्रह) है, उसका वाह्य त्याग व्यर्थ है।

८१. जो आत्मा, आत्मा मे लीन है, वही वस्तुत. सम्यग् दृष्टि है।

८२ सज्जन पुरुष, दुर्जनो के निष्ठुर और कठोर वचन रूप चपेटो को भी समभाव पूर्वक सहन करते हैं।

८३. परिणाम (भाव) से ही वधन और परिणाम से ही मोक्ष होता है, ऐसा जिनशासन का कथन है।

८४. जो भाव से श्रमण हैं, वे ध्यानरूप कुठार से भव-वृक्ष को काट डालते हैं।

८५ हवा से रहित स्थान मे जैसे दीपक निर्विघ्न जलता रहता है, वैसे ही राग की वायु से मुक्त रहकर (आत्ममदिर मे) ध्यान का दीपक सदा प्रज्ज्वलित रहता है।

८६. जव तक बुढापा आक्रमण नही करता है, रोगरूपी अग्नि देह रूपी झौपडी को जलाती नही है, इन्द्रियो की शक्ति विगलित—क्षीण नही होती है, तव तक तुम आत्म-हित के लिए प्रयत्न कर लो।

८७ जीव से रहित शरीर शव (मुर्दा-लाश) है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता 'शव' है। शव लोक मे अनादरणीय (त्याज्य) होता है, और वह चलशव लोकोत्तर अर्थात् धर्म-साधना के क्षेत्र मे अनादरणीय और त्याज्य रहता है।

८८. अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविमुक्को य होइ फुडं ।

—भाव० १५१

८९ दुक्खे णज्जइ अप्पा ।

—मोक्ष पाहुड ६५

९० तिपयारो सो अप्पा, परमंतरबाहिरो दु हेऊणं ।

—मोक्ष० ४

९१ अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।

—मोक्ष० ५

९२ जो सुत्तो ववहारे, सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे, सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥

—मोक्ष० ३१

९३ आदा हु मे सरणं ।

—मोक्ष० १०५

९४. सीलेण विणा विसया, णाणं विणासंति ।

—शील पाहुड २

९५ णाणं चरित्तसुद्धं थोओ पि महाफलो होई ।

—शील० ६

९६ सीलगुणवज्जिदाणं, णिरत्थयं माणुसं जम्मं ।

—शील० १५

९७. जीवदया दम सच्चं, अचोरियं बंभचेर संतोसे ।
सम्मद्द सण-णाणे, तओ य सीलस्स परिवारो ॥

—शील० १९

९८. सील मोक्खस्स सोवाणं ।

—शील० २०

९९. सीलं विसयविरागो ।

—शील० ४०

८८ आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।

८९. आत्मा बडी कठिनता से जाना जाता है।

९० आत्मा के तीन प्रकार हैं—परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। (इनमे बहिरात्मा से अन्तरात्मा, और अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढे)।

९१. इन्द्रियो मे आसक्ति बहिरात्मा है, और अन्तरग मे आत्मानुभव रूप आत्मसंकल्प अन्तरात्मा है।

९२ जो व्यवहार (-ससार) के कार्यों मे सोता (उदासीन) है, वह योगी स्वकार्य मे जागता (सावधान) है। और जो व्यवहार के कार्यों मे जागता है वह आत्मकार्यों मे सोता है।

९३. आत्मा ही मेरा शरण है।

९४. शील (सदाचार) मोक्ष का सोपान है।

९५. चारित्र से विशुद्ध हुआ ज्ञान, यदि अल्प भी है, तब भी वह महान फल देने वाला है।

९६ शीलगुण से रहित व्यक्ति का मनुष्य जन्म पाना निरर्थक ही है।

९७. इन्द्रियो के विषयो से विरक्त रहना, शील है।

९८. शील (आचार) के बिना इन्द्रियो के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।

९९ जीवदया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सतोष, सम्यग् दर्शन, ज्ञान, और तप—यह सब शील का परिवार है। अर्थात् शील के अग हैं।

भाष्यसाहित्य की सूक्तियां

●

१ गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ।।

—बृहत्कल्पभाष्य २४५

२ को कल्लाणं निच्छइ ।

—बृहृ० भा० २४७

३ जो उत्तमेहिं पहओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।

—बृहृ० भा० २४९

४ जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया ।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तत्तिया चेव ।।

—बृहृ० भा० ३२२

५. अवत्तणेण जीहाइ कूइया होइ खीरमुदगम्मि ।
हंसो मोत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो ।।

—बृहृ० भा० ३४७

६ मसगो व्व तुदं जच्चाइएहिं निच्छुब्भइ कुसीसो वि ।

—बृहृ० भा० ३५०

७ अद्दागसमो साहू ।

—बृहृ० भा० ८१२

भाष्यसाहित्य की सूक्तियां

●

१ गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी होता है, जब कि गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेह-रहित (तैलशून्य) दीपक की तरह तेज और प्रकाश से शून्य होता है।

२. संसार मे कौन ऐसा है, जो अपना कल्याण न चाहता हो ?

३ जो मार्ग महापुरुषो द्वारा चलकर प्रहत=सरल बना दिया गया है, वह अन्य सामान्य जनो के लिए दुर्गम नही रहता।

४ जितने उत्सर्ग (निषेधवचन) हैं, उतने ही उनके अपवाद (विधिवचन) भी हैं। और जितने अपवाद हैं उतने ही उत्सर्ग भी हैं।

५ हस जिस प्रकार अपनी जिह्वा की अम्लता-शक्ति के द्वारा जलमिश्रित दूध मे से जल को छोडकर दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सुशिष्य दुर्गुणो को छोडकर सद्गुणो को ग्रहण करता है।

६ जो कुशिष्य गुरु को, जाति आदि की निन्दा द्वारा, मच्छर की तरह हर समय तग करता रहता है, वह मच्छर की तरह ही भगा दिया जाता है।

७ साधु को दर्पण के समान निर्मल होना चाहिए।

८ पावाणं जदकरणं, तदेव खलु मंगलं परम ।

—बृह० भा० ८१४

९. रज्जं विलुत्तसार, जह तह गच्छो वि निस्सारो ।

—बृह० भा० ९३७

१० जह ण्हाउत्तिण्ण गओ, वहुअतर रेणुयं छुभइ अंगे ।
सुट्ठु वि उज्जममाणो, तह अण्णाणी मलं चिणइ ।

—बृह० भा० ११४७

११. न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तवोकम्मं ।

—बृह० भा० ११६९

१२. जो वि पगासो बहुसो, गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।
जच्चंधस्स व चंदो, फुडो वि संतो तहा स खलु ॥

—बृह० भा० १२२४

१३. कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ?
कत्थ वरलक्खणधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥

—बृह० भा० १२४५

१४. सुक्किधणम्मि दिप्पइ, अग्गी मेहरहिओ ससी भाइ ।
तव्विहजणे य निउणे, विज्जा पुरिसा वि भायंति ॥

—बृह० भा० १२४७

१५ को नाम सारहीणं, स होइ जो भद्दवाइणो दमए ।
दुट्ठे वि उ जो आसे, दमेइ त आसियं विंति ॥

—बृह० भा० १२७५

१६ माई अवन्नवाई, किव्विसियं भावणं कुव्वइ ।

—बृह० भा० १३०२

१७. काउं च नाणुतप्पइ, एरिसओ निक्किवो होइ ।

—बृह० भा० १३१६

८. पाप कर्म न करना ही वस्तुत परम मगल है ।

९ राजा के द्वारा ठीक तरह से देख भाल किए विना जैसे कि राज्य ऐश्वर्य-हीन हो जाता है, वैसे ही आचार्य के द्वारा ठीक तरह से सभाल किए विना सघ भी श्रीहीन हो जाता है ।

१०. जिस प्रकार हाथी स्नान करके फिर वहुत सी धूल अपने ऊपर डाल लेता है, वैसे ही अज्ञानी साधक साधना करता हुआ भी नया कर्ममल सचय करता जाता है ।

११ स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत मे कभी हुआ, न वर्तमान मे कही है, और न भविष्य मे कभी होगा ।

१२. शास्त्र का वार-वार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उसके अर्थ की साक्षात् स्पष्ट अनुभूति न हुई हो, तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है, जैसा कि जन्माध के समक्ष चद्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है ।

१३ अग्नि कहाँ नही जलती है ? चन्द्रमा कहाँ नही प्रकाश करता है ? और श्रेष्ठ लक्षणो (गुणो) से युक्त सत्पुरुष कहाँ नही प्रतिष्ठा पाते हैं ? अर्थात् सर्वत्र पाते हैं ।

१४ सूखे ईधन मे अग्नि प्रज्वलित होती है, वादलो से रहित स्वच्छ आकाश मे चन्द्र प्रकाशित होता है, इसी प्रकार चतुर लोगो मे विद्वान् शोभा-(यश) पाते हैं ।

१५. उस आश्विक (घुड सवार) का क्या महत्त्व है, जो सीधे-सादे घोडो को काबू मे करता है ? वास्तव मे घुडसवार तो उसे कहा जाता है, जो दुष्ट (अडियल) घोडो को भी काबू मे किए चलता है ।

१६ जो मायावी है, और सत्पुरुषो की निंदा करता है, वह अपने लिए किल्विषिक भावना (पापयोनि की स्थिति) पैदा करता है ।

१७ अपने द्वारा किसी प्राणी को कष्ट पहुचने पर भी, जिसके मन मे पश्चात्ताप नही होता, उसे निष्कृप—निर्दय कहा जाता है ।

१८. जो उ परं कंपंत, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं ॥

—बृह० भा० १३२०

१९. अप्पाहारस्स न इंदियाइ, विसएसु संपत्त ति ।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि ॥

—बृह० भा० १३३१

२०. त तु न विज्जइ सज्झं, ज धिइमतो न साहेइ ।

—बृह० भा० १३५७

२१. वंतं पि दुद्धकंखी, न लभइ दुद्धं अधेणूतो ।

—बृह० भा० १६४४

२२. सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्ढीआ ।
तस्स पुण जोव्वणम्मि, पओअण किं गिरिगुहाए ?

—बृह० भा० २११४

२३. न य सो भावो विज्जइ, अदोसवं जो अनिययस्स ।

—बृह० भा० २१३८

२४. वालेण य न छलिज्जइ, ओसहहत्थो वि किं गाहो ?

—बृह० भा० २१६०

२५. उदगघडे वि करगए, किमोगमादीवित न उज्जलइ ।
अइइद्धो वि न सक्कइ विनिव्ववेउं कुडजलेणं ॥

—बृह० भा० २१६१

२६. चूयफलदोसदरिसी, चूयच्छायपि वज्जेई ।

—बृह० भा० २१६६

२७ छाएउं च पभाय, न वि सक्का पडसएणावि ।

—बृह० भा० २२६६

१८ जो कठोरहृदय दूसरे को पोडा से प्रकपमान देखकर भी प्रकम्पित नही होता, वह निरनुकप (अनुकपारहित) कहलाता है। चूंकि अनुकंपा का अर्थ ही है—कांपते हुए को देखकर कपित होना।

१९. जो अल्पाहारी होता है उसकी इद्रिया विपयभोग की ओर नही दौड़ती, तप का प्रसग आने पर भी वह क्लात नही होता और न ही सरस भोजन मे आसक्त होता है।

२० वह कौन सा कठिन कार्य है, जिसे धैर्यवान् व्यक्ति सपन्न नही कर सकता ?

२१ दूध पाने की कोई कितनी ही तीव्र आकाक्षा क्यो न रखे, पर वाझ गाय से कभी दूध नही मिल सकता।

२२. गुफा वचपन मे सिंह-शिशु की रक्षा करती है, अत तभी तक उसकी उपयोगिता है। जव सिंह तरुण हो गया तो फिर उसके लिए गुफा का क्या प्रयोजन है ?

२३. पुरुषार्थहीन व्यक्ति के लिए ऐसा कोई कार्य नही, जो कि निर्दोष हो, अर्थात् वह प्रत्येक कार्य मे कुछ न कुछ दोष निकालता ही रहता है।

२४ हाथ मे नागदमनी औषधि के होते हुए भी क्या सर्प पकडने वाला गारुडी दुष्ट सर्प से नही छला जाता है, काट लिया नही जाता है ? (साधक को भी तप आदि पर विश्वस्त होकर नही वैठ जाना चाहिए। हर क्षण विकारो से सतर्क रहने की आवश्यकता है।)

२५. गृहस्वामी के हाथ मे जल से भरा घडा होते हुए भी क्या आग लगने पर घर नही जल जाता है ? अवश्य जल जाता है। क्योकि सव ओर अत्यन्त प्रदीप्त हुआ दावानल एक घडे के जल से वुझ नही सकता है ? (जितना महान् साध्य हो, उतना ही महान् साधन होना चाहिए।)

२६. आम खाने से जिसे व्याधि होती हो, वह आम की छाया से भी वच कर चलता है।

२७. वस्त्र के सैकडो आवरणो (प्रावरणो) के द्वारा भी प्रभात के स्वर्णिम आलोक को ढका नही जा सकता।

२८ अवच्छलत्ते य दसणे हाणी ।

—बृह० भा० २७११

२९ अकसाय खु चरित्त, कसायसहिओ न सजओ होइ ।

—बृह० भा० २७१२

३० जो पुण जतणारहिओ, गुणो वि दोसायते तस्स ।

—बृह० भा० ३१८१

३१. कुल विणासेइ सय पयाता,
नदीव कूल कुलडा उ नारी ।

—बृह० भा० ३२५१

३२. अधो कहिं कत्थइ देसियत्त ?

—बृह० भा० ३२५३

३३ वसुंधरेय जह वीरभोज्जा ।

—बृह० भा० ३२५४

३४ ण सुत्तमत्थ अतिरिच्च जाती ।

—बृह० भा० ३६२७

३५. जस्सेव पभावुम्मिल्लिताइं त चेव हयकतग्घाइ ।
कुमुदाइं अप्पसभावियाइ चंद उवहसति ॥

—बृह० भा० ३६४२

३६. जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से वंधो ।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अंबुणावे ॥

—बृह० भा० ३९२६

३७ आहच्च हिंसा समितस्स जा तू,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा,
जे वा वि सत्तो ण सदा वधेति ॥

—बृह० भा० ३९३३

२८ धार्मिक जनो मे परस्पर वात्सल्य भाव की कमी होने पर सम्यग्दर्शन की हानि होती है।

२९ अकषाय (वीतरागता) ही चारित्र है। अत कषायभाव रखने वाला सयमी नही होता ।

३० जो यतनारहित है, उसके लिए गुण भी दोष बन जाते हैं।

३१. स्वच्छंद आचरण करने वाली नारी अपने दोनो कुलो (पितृकुल व श्वसुर-कुल) को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे कि स्वच्छद बहती हुई नदी अपने दोनो कूलो (तटो) को।

३२ कहाँ अधा और कहाँ पथप्रदर्शक ?
(अधा और मार्गदर्शक, यह कैसा मेल ?)

३३ यह वसु धरा वीरभोग्या है ।

३४. सूत्र, अर्थ (व्याख्या) को छोडकर नही चलता है ।

३५. जिस चन्द्र की ज्योत्स्ना द्वारा कुमुद विकसित होते हैं, हन्त ! वे ही कृतघ्न होकर अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुए उसी चन्द्रमा का उपहास करने लग जाते हैं ।

३६. जैसे-जैसे मन, वचन, काया के योग (सघर्ष) अल्पतर होते जाते है, वैसे-वैसे वध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णत निरोध होने पर आत्मा मे वध का सर्वथा अभाव हो जाता है, जैसे कि समुद्र मे रहे हुए अच्छिद्र जलयान मे जलागमन का अभाव होता है।

३७ सयमी साधक के द्वारा कभी हिंसा हो भी जाय तो वह द्रव्य हिंसा होती है, भाव हिंसा नही। किंतु जो असयमी है, वह जीवन मे कभी किसी का वध न करने पर भी, भावरूप से सतत हिंसा करता रहता है।

३८. जाणं करेति एक्को, हिंसमजाणमपरो अविरतो य ।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतर देसितो समए ॥
—बृह० भा० ३९३८

३९. विरतो पुण जो जाण, कुणति अजाणं व अप्पमत्तो वा ।
तत्थ वि अज्झत्थसमा, संजायति णिज्जरा ण चयो ॥
—बृह० भा० ३९३९

४०. देहबल खलु विरिय, बलसरिसो चेव होति परिणामो ।
—बृह० भा० ३९४८

४१ संजमहेऊ जोगो, पउज्जमाणो अदोसवं होइ ।
जह आरोग्गणिमित्तं, गंडच्छेदो व विज्जस्स ॥
—बृह० भा० ३९५१

४२ ण भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सील हिरी य इत्थिए ।
—बृह० भा० ४११८

४३. गिरा हि संखारजुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी ।
—बृह० भा० ४११८

४४. बाला य बुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा ।
—बृह० भा० ४३४२

४५ न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धलेइ कण्हुई ।
—बृह० भा० ४३६३

४६. जहा तवस्सी धुणते तवेण, कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता ।
—बृह० भा० ४४०१

३८. एक अविरत (असयमी) जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजान मे। शास्त्र मे इन दोनो के हिंसाजन्य कर्मबंध मे महान अन्तर बताया है।[1] अर्थात् तीव्र भावो के कारण जानने वाले को अपेक्षाकृत कर्मबंध तीव्र होता है।

३९. अप्रमत्त संयमी (जागृत साधक) चाहे जान मे (अपवाद स्थिति मे) हिंसा करे या अनजान मे, उसे अन्तरग शुद्धि के अनुसार निर्जरा ही होगी, बन्ध नही।

४० देह का बल ही वीर्य है और बल के अनुसार ही आत्मा मे शुभाशुभ भावो का तीव्र या मद परिणमन होता है।

४१. सयम के हेतु की जाने वाली प्रवृत्तियाँ निर्दोष होती हैं, जैसे कि वैद्य के द्वारा किया जाने वाला व्रणच्छेद (फोडे का ऑपरेशन) आरोग्य के लिए होने से निर्दोष होता है।

४२ नारी का आभूषण शील और लज्जा है। बाह्य आभूषण उसकी शोभा नही बढा सकते।

४३ सस्कृत, प्राकृत आदि के रूप मे सुसस्कृत भाषा भी यदि असभ्यतापूर्वक बोली जाती है तो वह भी जुगुप्सित हो जाती है।

४४ बालक, वृद्ध और अपग व्यक्ति, विशेष अनुकपा (दया) के योग्य होते हैं।

४५. जिस घडे की पेंदी मे छेद हो गया हो, उसमे जल आदि कैसे टिक सकते हैं ?

४६ जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्मों को धुन डालता है, वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी।

---

१. यो जानन् जीवहिंसा करोति स तीव्रानुभावं बहुतर पाप कर्मोपचिनोति, इतरस्तु मन्दतरविपाकमल्पतर. .।

—इति भाष्यवृत्तिकार. क्षेमकीर्ति.।

४७ जोइ ति पक्कं न उ पक्कलेणं,
ठावेंति त सूरहगस्स पासे ।
एक्कमि खंभम्मि न मत्तहत्थी,
वज्झंति वग्घा न य पंजरे दो ॥

—बृह० भा० ४४१०

४८ धम्मस्स मूल विणयं वदति, धम्मो य मूल खलु सोग्गईए ।

—बृह० भा० ४४४१

४९ मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसा य, जुत्तस्स उ गुणावहा ॥

—बृह० भा० ४४४६

५०. जहिं णत्थि सारणा वारणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि ।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो ॥

—बृह० भा० ४४६४

५१. ज इच्छसि अप्पणतो,
जं च न इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि,
एत्तियगं जिणसासणयं ॥

—बृह० भा० ४५८४

५२. सव्वारंभ-परिग्गहणिक्खेवो सव्वभूतसमया य ।
एक्कग्गमणसमाहाणया य, अह एत्तिओ मोक्खो ॥

—बृह० भा० ४५८५

५३. जं कल्लं कायव्व, णरेण अज्जेव त वर काउं ।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि ॥

—बृह० भा० ४६७४

५४. तूरह धम्म काउ, मा हु पमाय खण पि कुव्वित्था ।
वहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिच्छाहि ॥

—बृह० भा० ४६७५

४७. पक्व (झगडालू) को पक्व के साथ नियुक्त नही करना चाहिए, किंतु शात के साथ रखना चाहिए, जैसे कि एक खभे से दो मस्त हाथियो को नही बाँधा जाता और न एक पिंजरे मे दो सिंह रखे जाते हैं।

४८. धर्म का मूल विनय है और धर्म सद्गति का मूल है।

४६ मन, वचन और काया के तीनो योग अयुक्त (अविवेकी) के लिए दोष के हेतु हैं और युक्त (विवेकी) के लिए गुण के हेतु।

५० जिस सघ मे न सारणा[1] है, न वारणा[2] है और न प्रतिचोदना[3] है, वह सघ सघ नही है, अत सयम आकाक्षी को उसे छोड देना चाहिए।

५१ जो अपने लिए चाहते हो वह दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए, जो अपने लिए नही चाहते हो वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए —बस इतना मात्र जिन शासन है, तीर्थंकरो का उपदेश है।

५२ सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियो के प्रति समता, और चित्त की एकाग्रतारूप समाधि—बस इतना मात्र मोक्ष है।

५३, जो कर्तव्य कल करना है, वह आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यत निर्दय है, यह कब आजाए, मालूम नही।

५४. धर्माचरण करने के लिए शीघ्रता करो, एक क्षणभर भी प्रमाद मत करो। जीवन का एक एक क्षण विघ्नो से भरा है, इसमे सध्या की भी प्रतिक्षा नही करनी चाहिए।

---

१. कर्तव्य की सूचना। २ अकर्तव्य का निषेध। ३ भूल होने पर कर्तव्य के लिए कठोरता के साथ शिक्षा देना।

५५ तुल्लम्मि अवराधे, परिणामवसेण होति णाणत्तं ।

—बृह० भा० ४६७४

५६ कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिं पण्णत्तो ।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले स खलु ॥

—बृह० भा० ५१०८

५७ विणयाहीया विज्जा, देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।
न फलंति विणयहीणा, सस्साणि व तोयहीणाइं ॥

—बृह० भा० ५२०३

५८ वुग्गाहितो न जाणति, हितएहिं हितं पि भण्णंतो ।

—बृह० भा० ५२२८

५९ निव्विकप्पसुहं सुहं ।

—बृह० भा० ५७१७

६०. एगागिस्स हि चित्ताइं, विचित्ताइं खणे खणे ।
उप्पज्जंति वियंते य, वसेवं सज्जणे जणे ॥

—बृह० भा० ५७१९

६१ जह कोति अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढितो संतो ।
ण चइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिंसमाणो उ ॥

—बृह० भा० ६०९२

६२. सव्वे वि होंति सुद्धा, नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे ।

—व्यवहारभाष्य पीठिका ४७

६३. पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे ।
अचक्खुओ व नेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा ॥

—व्यव० भा० पी० ७६

६४. अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं चेव ।

—व्यव० भा० पी० ७७

५५ वाहर मे समान अपराध होने पर भी अन्तर् मे परिणामो की तीव्रता, व मन्दता सम्वन्धी तरतमता के कारण दोप की न्यूनाधिकता होती है ।

५६. यह ठीक है कि जिनेश्वरदेव ने परपरिताप को दु ख का हेतु वताया है । किंतु शिक्षा की दृष्टि से दुष्ट शिष्य को दिया जाने वाला परिताप इस कोटि मे नही है, चू कि वह तो स्व-पर का हितकारी होता है ।

५७ विनयपूर्वक पढी गई विद्या, लोक परलोक मे सर्वत्र फलवती होती है । विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिस प्रकार जल के विना धान्य की खेती ।

५८ हितैपियो के द्वारा हित की वात कहे जाने पर भी धूर्तों के द्वारा वह-काया हुआ व्यक्ति (व्युद्ग्राहित) उसे ठीक नही समझता—अर्थात् उसे उल्टी समझता है ।

५९. वस्तुत रागद्वेष के विकल्प से मुक्त निर्विकल्प सुख ही सुख है ।

६० एकाकी रहने वाले साधक के मन मे प्रतिक्षण नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न एव विलीन होते रहते हैं । अत सज्जनो की सगति मे रहना ही श्रेष्ठ है ।

६१. जिस प्रकार जहरीले काटो वाली लता से वेष्टित होने पर अमृत वृक्ष का भी कोई आश्रय नही लेता, उसी प्रकार दूसरो को तिरस्कार करने और दुर्वचन कहने वाले विद्वान को भी कोई नही पूछता ।

६२ सभी नय (विचारदृष्टिया) अपने अपने स्थान (विचार केन्द्र) पर शुद्ध हैं कोई भी नय अपने स्थान पर अशुद्ध (अनुपयुक्त) नही है ।

६३. पहले बुद्धि से परख कर फिर बोलना चाहिये । अधा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है ।

६४. मन को अकुशल=अशुभ विचारो से रोकना चाहिये और कुशल=शुभ विचारों के लिए प्रेरित करना चाहिए ।

६५ न उ सच्छदत्ता सेया, लोए किमुत उत्तरे।

—व्यव० भा० पी० ८६

६६. जा एगदेसे अदढा उ भंडी,
सीलप्पए सा उ करेइ कज्जं।
जा दुब्बला संठविया वि संती
न तं तु सीलंति विसण्णदारु ॥

—व्यव० भा० पी० १८१

६७. सालवसेवी समुवेइ मोक्ख।

—व्यव० भा० पी० १८४

६८. अलस अणुवद्धवेरं, सच्छंदमती पयहीयव्वो।

—व्यव० भा० १।६६

६९ तुल्ले वि इ दियत्थे, एगो सज्जइ विरज्जई एगो।
अज्झत्थ तु पमाणं, न इंदियत्था जिणा विंति ॥

—व्यव० भा० २।५४

७० कम्माण निज्जरट्ठा, एवं खु गणो भवे धरेयव्वो।

—व्यव० भा० ३।४५

७१. अत्थेण य वजिज्जइ, सुत्त तम्हाउ सो बलवं।

—व्यव० भा० ४।१०१

७२. वलवाहणत्थहीणो, बुद्धीहीणो न रक्खए रज्जं।

—व्यव० भा० ५।१०७

७३. जो सो मणप्पसादो, जायइ सो निज्जरं कुणति।

—व्यव० भा० ६।१९०

७४ नवणीयतुल्लहियया साहू।

—व्यव० भा ७।१६५

७५. जइ नत्थि नाणचरणं, दिक्खा हु निरत्थिगा तस्स।

—व्यव० भा० ७।२१५

६५ स्वच्छंदता लौकिक जीवन मे भी हितकर नही है, तो लोकोत्तर जीवन (साधक जीवन) में कैसे हितकर हो सकती है ?

६६. गाडी का कुछ भाग टूट जाने पर तो उसे फिर सुधार कर काम मे लिया जा सकता है, किंतु जो ठीक करने पर भी टूटती जाए और बेकार बनी रहे, उसको कौन सँवारे ? अर्थात् उसे सवारते रहने से क्या लाभ है ?

६७. जो साधक किसी विशिष्ट ज्ञानादि हेतु से अपवाद (निषिद्ध) का आचरण करता है, वह भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है।

६८ आलसी, वैर विरोध रखने वाले, और स्वच्छदाचारी का साथ छोड देना चाहिए।

६९ इन्द्रियो के विषय समान होते हुए भी एक उनमे आसक्त होता है और दूसरा विरक्त। जिनेश्वरदेव ने वताया है कि इस सम्बन्ध मे व्यक्ति का अन्तर् हृदय ही प्रमाणभूत है, इन्द्रियो के विषय नही।

७०. कर्मों की निर्जरा के लिये (आत्मशुद्धि के लिए) ही आचार्य को संघ का नेतृत्व सभालना चाहिए।

७१. सूत्र (मूल शब्द पाठ), अर्थ (व्याख्या) से ही व्यक्त होता है, अत अर्थ सूत्र से भी वलवान (महत्व पूर्ण) है।

७२. जो राजा सेना, वाहन, अर्थ (सपत्ति) एव बुद्धि से हीन है वह राज्य की रक्षा नही कर सकता।

७३. साधना मे मन प्रसाद (मानसिक निर्मलता) ही कर्मनिर्जरा का मुख्य कारण है।

७४ साधुजनो का हृदय नवनीत (मक्खन) के समान कोमल होता है।

७५. यदि ज्ञान और तदनुसार आचरण नही है, तो उसकी दीक्षा निरर्थक है।

७६ सव्वजगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं ।

—व्यव० भा० ७।२१६

७७. नाणम्मि असंतम्मि, चरित्तं वि न विज्जए ।

—व्यव० भा० ७।२१७

७८. न हि सूरस्स पगासं, दीवपगासो विसेसेइ ।

—व्यव० भा० १०।५४

७९ अहवा कायमणिस्स उ, सुमहल्लस्स वि उ कागणीमोल्लं ।
वइरस्स उ अप्पस्स वि, मोल्लं होति सयसहस्सं ॥

—व्यव० भा० १०।२१६

८० जो जत्थ होइ कुसलो, सो उ न हावेइ तं सइ बलम्मि ।

—व्यव० भा० १० ५०८

८१. उवकरणेहि विहूणो, जह वा पुरिसो न साहए कज्जं ।

—व्यव० भा० १०।५४०

८२. अत्थधरो तु पमाणं, तित्थगरमुहुग्गतो तु सो जम्हा ।

—निशीथ भाष्य, २२

८३ काम सभावसिद्धं तु, पवयण दिप्पते सयं चेव ।

—नि० भा० ३१

८४ कुसलवइ उदीरंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ।

—नि० भा० ३७

—बृह० भा० ४४५१

८५. ण हु वीरियपरिहीणो, पवत्तते णाणमादीसु ।

—नि० भा० ४८

८६ णाणी ण विणा णाणं ।

—नि० भा० ७५

७६ ज्ञान विश्व के समग्र रहस्यो को प्रकाशित करने वाला है। ज्ञान से ही चारित्र (कर्तव्य) का बोध होता है।

७७ ज्ञान नही है, तो चारित्र भी नही है।

७८ सूर्य के प्रकाश के समक्ष दीपक के प्रकाश का क्या महत्व है?

७९ काच के बडे मनके का भी केवल एक काकिनी[1] का मूल्य होता है, और हीरे की छोटी-सी कणी भी लाखो का मूल्य पाती है।

८० जो जिस कार्य मे कुशल है, उसे शक्ति रहते हुए वह कार्य करना ही चाहिए।

८१ साधनहीन व्यक्ति अभीष्ट कार्य को सिद्ध नही कर पाता है।

८२ सूत्रधर (शब्द-पाठी) की अपेक्षा अर्थधर (सूत्ररहस्य का ज्ञाता) को प्रमाण मानना चाहिए, क्योकि अर्थ साक्षात् तीर्थंकरो की वाणी से नि सृत है।

८३ जिनप्रवचन सहज सिद्ध है, अत वह स्वयं प्रकाशमान है।

८४. कुशल वचन (निरवद्य वचन) बोलने वाला वचनसमिति का भी पालन करता है, और वचन गुप्ति का भी।

८५ निर्वीर्य (शक्तिहीन) व्यक्ति ज्ञान आदि की भी सम्यक् साधना नही कर सकता।

८६ ज्ञान के विना कोई ज्ञानी नहीं हो सकता।

---

१ काकिणी नाम रूवगस्स असीतितमो भागः।
रुपये का अस्सीवां भाग काकिणी होती है। —उत्त० चू० ७

८७. घिती तु मोहस्स उवसमे होति।

—नि० भा० ८५

८८. सुहपडिवोहा णिद्दा, दुहपडिवोहा य णिद्दणिद्दा य।

—नि० भा० १३३

८९ णा णज्जोया साहू।

—नि० भा० २२५

—वृह० भा० ३४५३

९० जा चिट्ठा सा सव्वा सजमहेउ ति होति समणाणं।

—नि० भा० २६४

९१ राग-द्दोसाणुगता, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
अराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेण॥

—नि० भा० ३६३

—वृह० भा० ४९४३

९२. संसारगड्डपडितो णाणादवलवितुं समारुहति।
मोक्खतड जघ पुरिसो, वल्लिविताणेण विसमाओ॥

—नि० भा० ४६५

९३ ण हु होति सोयितव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोयियव्वो, जो संजम-दुव्वलो विहरे॥

—नि० भा० १७१७

—बृह० भा० ३७३९

९४ णेहरहित तु फरुस।

—नि० भा० २६०८

९५. अलं विवाएण णे कतमुहेहिं।

—नि० भा० २६१३

९६ आसललिअं वराओ, चाएति न गद्दभो काउ।

—नि० भा० २६२८

८७, मोह का उपशम होने पर ही धृति होती है।

८८. समय पर सहजतया जाग आ जाना 'निद्रा' है, कठिनाई से जो जाग आए वह 'निद्रा-निद्रा' है।

८९. साधक ज्ञान का प्रकाश लिए जीवन यात्रा करता है।

९० श्रमणो की सभी चेष्टा अर्थात् क्रियाए सयम के हेतु होती हैं।

९१. रागद्वेप पूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना (निषिद्ध आचरण) दर्पिका है और राग द्वेष से रहित प्रतिसेवना (अपवाद काल मे परिस्थितिवश किया जाने वाला निपिद्ध आचरण) कल्पिका है। कल्पिका मे संयम की आराधना है और दर्पिका मे विराधना।

९२ जिस प्रकार विपम गर्त मे पडा हुआ व्यक्ति लता आदि को पकड कर ऊपर आता है, उसी प्रकार ससारगर्त मे पडा हुआ व्यक्ति ज्ञान आदि का अवलवन लेकर मोक्ष रूपी किनारे पर आ जाता है।

९३ वह शोचनीय नही है, जो अपनी साधना मे दृढ रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त कर गया है। शोचनीय तो वह है, जो सयम से भ्रष्ट होकर जीवित घूमता फिरता है।

९४ स्नेह से रहित वचन 'परुप=कठोर वचन' कहलाता है।

९५ कृतमुख (विद्वान) के साथ विवाद नही करना चाहिए।

९६ शिक्षित अश्व की क्रीडाएँ विचारा गर्दभ कैसे कर सकता है?

९७. जह कोहाइ विवड्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि।

—नि० भा० २७९०

—बृह० भा० २७११

९८. ज अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
त पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

—नि० भा० २७९३

बृह० भा० २७१५

९९. राग-द्दोस-विमुक्को सीयघरसमो य आयरिओ।

—नि० भा० २७९४

१००. तमतिमिरपडलभूओ, पावं चिंतेइ दीहसंसारी।

—नि० भा० २८४७

१०१. सोऊण वा गिलाणं, पथे गामे य भिक्खवेलाए।
जति तुरियं णागच्छति, लग्गति गुरुए[1] सवित्थारं ॥

—नि० भा० २९७०

—बृह० भा० ३७६९

१०२ जह भमर-महुयर-गणा णिवतति कुसुमितम्मि वणसडे।
तह होंति णिवतियव्व, गेलण्णे कतितवजढेणं ॥

—नि० भा० २९७१

१०३ पुव्वतव-सजमा होंति, रागिणो पच्छिमा अरागस्स।

—नि० भा० ३३३२

१०४ अप्पो बधो जयाण, बहुणिज्जर तेण मोक्खो तु।

—नि० भा० ३३३५

---

१. चउम्मासे—इति बृहत्कल्पे।

९७ ज्यो-ज्यो क्रोधादि कषाय की वृद्धि होती है, त्यो-त्यो चारित्र की हानि होती है।

९८. देशोनकोटिपूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त भर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

९९ राग द्वेष से रहित आचार्य शीतगृह[1] (सब ऋतुओ मे एक समान सुख-प्रद) भवन के समान है।

१००. पुंजीभूत अधकार के समान मलिन चित्तवाला दीर्घससारी जीव जब देखो तब पाप का ही विचार करता रहता है।

१०१ विहार करते हुए, गाँव मे रहते हुए, भिक्षाचर्या करते हुए यदि सुन पाए कि कोई साधु साध्वी बीमार है, तो शीघ्र ही वहाँ पहुँचना चाहिए। जो साधु शीघ्र नही पहुँचता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१०२ जिस प्रकार कुसुमित उद्यान को देख कर भौंरे उस पर मडराने लग जाते हैं, उसी प्रकार किसी साथी को दु खी देखकर उसकी सेवा के लिए अन्य साथियो को सहज भाव से उमड पड़ना चाहिए।

१०३ रागात्मा के तप-सयम निम्न कोटि के होते हैं, वीतराग के तप-सयम-उत्कृष्टतम होते हैं।

१०४ यतनाशील साधक का कर्मबध अल्प, अल्पतर होता जाता है, और निर्जरा तीव्र, तीव्रतर। अत वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

---

१. वड्ढकीरयण-णिम्मिय चक्किणो सीयघर भवति। वासासु णिवाय-पवात, सीयकाले सोम्ह, गिम्हे सीयल 'सव्वरिउक्खम भवति।

—निशीथचूर्णि।

१०५ इंदियाणि कसाये य, गारवे य किसे कुरु।
णो वयं ते पससामो, किसं साहु सरीरग ॥
—नि० भा० ३७५८

१०६ भण्णति सज्झमसज्झं, कज्ज सज्झ तु साहए मइम।
अविसज्झं साहेतो, किलिस्सति न तं च साहेई ॥
—नि० भा० ४१५७
—बृह० भा० ५२७९

१०७ मोक्खपसाहणहेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥
—नि० भा० ४१५९
—बृह० भा० ५२८१

१०८. णाणे णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी।
—नि० भा० ४७९१
—बृह० भा० ९३१

१०९. सुहसाहग पि कज्ज, करणविहूणमणुवायसजुत्त।
अन्नायऽदेसकाले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥
— नि० भा० ४८०३
—बृह० भा० ९४४

११०. नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो।
दुच्छेज्जो वड्ढतो, सो च्चिय वत्थुस्स भेदाय ॥
—नि० भा० ४८०४
—बृह० भा० ९४५

१११. संपत्ती व विवत्ती व, होज्ज कज्जेसु कारग पप्प।
अणुपायओ विवत्ती, सपत्ती कालुवाएहिं ॥
—नि० भा० ४८०८
—बृह० भा० ९४९

११२. जतिभागगया मत्ता, रागादीणं तहा चयो कम्मे।
—नि० भा० ५१६४
—बृह० भा० २५१५

१०५ हम साधक के केवल अनशन आदि से कृश (दुर्बल) हुए शरीर के प्रशसक नही है, वस्तुत तो इन्द्रिय (वासना), कपाय और अहकार को ही कृश (क्षीण) करना चाहिए।

१०६, कार्य के दो रूप हैं—साध्य और असाध्य। बुद्धिमान साध्य को साधने मे ही प्रयत्न करें। चूकि असाध्य को साधने मे व्यर्थ का क्लेश ही होता है, और कार्य भी सिद्ध नही हो पाता।

१०७ ज्ञान आदि मोक्ष के साधन है, और ज्ञान आदि का साधन देह है, देह का साधन आहार है, अत साधक को समयानुकूल आहार की आज्ञा दी गई है।

१०८ जो ज्ञान के अनुसार आचरण नही करता है, वह ज्ञानी भी वस्तुत अज्ञानी है।

१०९ देश, काल एव कार्य को विना समझे समुचित प्रयत्न एवं उपाय से हीन किया जाने वाला कार्य, सुख-साध्य होने पर भी सिद्ध नही होता है।

११० प्रासाद की दीवार मे फूटनेवाला नया वृक्षाकुर प्रारभ मे नख से भी उखाडा जा सकता है, किन्तु वही वढते-वढते एक दिन कुल्हाडी से भी दुच्छेद्य हो जाता है, और अन्तत प्रासाद को ध्वस्त कर डालता है।

१११ कार्य करने वाले को लेकर ही कार्य की सिद्धि या असिद्धि फलित होती है। समय पर ठीक तरह से करने पर कार्य सिद्ध होता है और समय वीत जाने पर या विपरीत साधन से कार्य नष्ट हो जाता है।

११२ राग की जैसी मद, मध्यम और तीव्र मात्रा होती है, उसी के अनुसार मद, मध्यम और तीव्र कर्मवध होता है।

११३. उस्सग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दव्वाणि संथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पंति ॥

—नि० भा० ५२४५

—बृह० भा० ३३२७

११४. णवि किंचि अणुण्णाय, पडिसिद्ध वावि जिणवरिंदेहिं।
एसा तेसिं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥

—नि० भा० ५२४८

—बृह० भा० ३३३०

११५. कज्जं णाणादीयं, उस्सग्गववायओ भवे सच्च।

—नि० भा० ५२४९

११६. दोसा जेण निरुंभंति, जेण खिज्जति पुव्वकम्माइं।
सो सो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समण व ॥

—नि० भा० ५२५०

—बृह० भा० ३३३१

११७ णिउणो खलु सुत्तत्थो, न हु सक्को अपडिबोहितो नाउं।

—नि० भा० ५२५२

—बृह० भा० ३३३३

११८. निक्कारणम्मि दोसा, पडिवंधे कारणम्मि णिद्दोसा।

—नि० भा० ५२८४

११९. जो जस्स उ पाओग्गो, सो तस्स तहिं तु दायव्वो।

—नि० भा० ५२९१

—बृह० भा० ३३७०

१२०. जागरह ! णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति न सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो ॥

—नि० भा० ५३०३

—बृह० भा० ३३८३

१२१. सुवति सुवंतस्स सुयं, सकिय खलियं भवे पमत्तस्स।
जागरमाणस्स सुय, थिर-परिचितमप्पमत्तस्स ॥

—नि० भा० ५३०४

—बृह० भा० ३३८४

११३ उत्सर्ग मार्ग मे समर्थ मुनि को जिन बातो का निषेध किया गया है, विशिष्ट कारण होने पर अपवाद मार्ग मे वे सब कर्तव्यरूप से विहित हैं।

११४ जिनेश्वरदेव ने न किसी कार्य की एकात अनुज्ञा दी है और न एकात निषेध ही किया है। उनकी आज्ञा यही है कि साधक जो भी करे वह सच्चाई—प्रामाणिकता के साथ करे।

११५ ज्ञान आदि की साधना देश काल के अनुसार उत्सर्ग एव अपवाद मर्ग के द्वारा ही सत्य (सफल) होती है।

११६ जिस किसी भी अनुष्ठान से रागादि दोषो का निरोध होता हो तथा पूर्वसचित कर्म क्षीण होते हो, वह सब अनुष्ठान मोक्ष का साधक है। जैसे कि रोग को शमन करने वाला प्रत्येक अनुष्ठान चिकित्सा के रूप मे आरोग्यप्रद है।

११७. सूत्र का अर्थ अर्थात् शास्त्र का मूलभाव बहुत ही सूक्ष्म होता है, वह आचार्य के द्वारा प्रतिबोधित हुए बिना नही जाना जाता।

११८. बिना विशिष्ट प्रयोजन के अपवाद दोषरूप है, किंतु विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए वही निर्दोष है।

११९. जो जिसके योग्य हो, उसे वही देना चाहिए।

१२०. मनुष्यो! सदा जागते रहो, जागने वाले की बुद्धि सदा वर्धमान रहती है। जो सोता है वह सुखी नही होता, जाग्रत रहने वाला ही सदा सुखी रहता है।

१२१. सोते हुए का श्रुत=ज्ञान सुप्त रहता है, प्रमत्त रहने वाले का ज्ञान शकित एव स्खलित हो जाता है। जो अप्रमत्त भाव से जाग्रत रहता है, उसका ज्ञान सदा स्थिर एव परिचित रहता है।

१२२ सुवइ य अजगरभूतो, सुय पि से णासती अमयभूय ।
होहिति गोणब्भूयो, णट्ठमि सुये अमयभूये ॥

—नि० भा० ५३०५

—बृह० भा० ३३८७

१२३ जागरिया धम्मीण, आहम्मीण च सुत्तया सेया ।

—नि० भा० ५३०६

—बृह० भा० ३३८६

१२४ णालस्सेण सम सोक्खं, ण विज्जा सह णिद्दया ।
ण वेरग्गं ममत्तेण, णारभेण दयालुआ ॥

—नि० भा० ५३०७

—बृह० भा० ३३८५

१२५ दुक्ख खु णिरणुकपा ।

—नि० भा० ५६३३

१२६ जो तु गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोस एव सो होती ।
अगुणो वि य होति गुणो, जो सुंदरणिच्छओ होति ॥

—नि० भा० ५८७७

—बृह० भा० ४०५२

१२७. पीतीसुण्णो पिसुणो ।

नि० भा० ६२१२

१२८ पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाण न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जति आभरण, पलियत्तियकण्ण—हत्थस्स ॥

—नि० भा० ६२२१

—बृह० भा० ७८२

१२९ मद्दवकरण णाण, तेणेव य जे मद समुवहति ।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसि ॥

—नि० भा० ६२२२

—बृह० भा० ७८३

१३०. खेत्त काल पुरिसं, नाऊण पगासए गुज्झं ।

—नि० भा० ६२२७

—बृह० भा० ७९०

१२२. जो अजगर के समान सोया रहता है, उसका अमृत-स्वरूप श्रुत (ज्ञान) नष्ट हो जाता है, और अमृत स्वरूप श्रुत के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति एक तरह से निरा बैल हो जाता है।

१२३. धार्मिक व्यक्तियो का जागते रहना अच्छा है और अधार्मिक जनो का सोते रहना।

१२४. आलस्य के साथ सुख का, निद्रा के साथ विद्या का, ममत्व के साथ वैराग्य का और आरभ = हिंसा के साथ दयालुता का कोई मेल नही है।

१२५. किसी के प्रति निर्दयता का भाव रखना वस्तुत दु खदायी है।

१२६ जो गुण, दोष का कारण है, वह वस्तुत गुण होते हुए भी दोष ही है। और वह दोष भी गुण है, जिसका कि परिणाम सु दर है, अर्थात् जो गुण का कारण है।

१२७. जो प्रीति से शून्य है—वह 'पिशुन' है।

१२८. जो व्यक्ति दुर्विनीत है, उसे सदाचार की शिक्षा नही देना चाहिए। भला जिसके हाथ पैर कटे हुए है, उसे ककण और कु डल आदि अलकार क्या दिए जायँ ?

१२९. ज्ञान मनुष्य को मृदु बनाता है, किंतु कुछ मनुष्य उससे भी मदोद्धत होकर अधजलगगरी की भाँति छलकने लग जाते हैं, उन्हे अमृत स्वरूप औषधि भी विष बन जाती हैं।

१३० देश, काल और व्यक्ति को समझ कर ही गुप्त रहस्य प्रकट करना चाहिए।

१४३ दविए दंसणसुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु ।

—ओघ निर्युक्ति भाष्य ७

१४४. चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहा ।

—ओघ नि० भा० ७

१४५. नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा ।

—ओघ नि० भा० २९०

१४६. नाण-किरियाहिं मोक्खो ।

—विशेषावश्यक भाष्य गा० ३

१४७ सव्वं च णिज्जरत्थं सत्थमओऽमगलमजुत्तं ।

—विशेषा० भा० १९

१४८ दव्वसुयं जो अणुवउत्तो ।

—विशेषा० भा० १२९

१४९ जग्गन्तो वि न जाणइ, छउमत्थो हिययगोयरं सव्वं ।
जंतज्झवसाणाइं, जमसंखेज्जाइं दिवसेण ॥

—विशेषा० भा० १९९

१५०. धम्मोऽवि जओ सव्वो, न साहणं किंतु जो जोग्गो ।

—विशेषा० भा० ३३१

१५१ जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलं असीलमसईए ।
भण्णइ तह नाणंपि हु, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

—विशेषा० भा० ५२०

१५२. नाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ।

—विशेषा० भा० ५२१

१५३ सव्वं चिय पइसमयं, उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।

—विशेषा० भा० ५४४

१५४ उवउत्तस्स उ खलियाइयं पि सुद्धस्स भावओ सुत्तं ।
साहइ तह किरियाओ, सव्वाओ निज्जरफलाओ ॥

—विशेषा० भा० ८६०

१४३ द्रव्यानुयोग (तत्वज्ञान) से दर्शन (दृष्टि) शुद्ध होता है, और दर्शन शुद्धि होने पर चारित्र की प्राप्ति होती है।

१४४. आचार रूप सद्गुणो की प्राप्ति के लिए धर्मकथा कही जाती है।

१४५ ससार मे भूख के समान कोई वेदना नही है।

१४६. ज्ञान एव क्रिया (आचार) से ही मुक्ति होती है।

१४७. समग्र शास्त्र निर्जरा के लिये है, अत उसमे अमगल जैसा कुछ नही है।

१४८ जो श्रुत उपयोगशून्य है, वह सव द्रव्य श्रुत है।

१४९ जाग्रत दशा मे भी छद्मस्थ अपने मन के सभी विचारों को नही जान पाता, क्योकि एक ही दिन मे मन के अध्यवसाय (विकल्प) असख्य रूप ग्रहण कर लेते हैं।

१५०. सभी धर्म मुक्ति के साधन नही होते हैं, किंतु जो योग्य है, वही साधन होता है।

१५१ जिस प्रकार लोक मे कुत्सित वचन, 'अवचन' एवं कुत्सित शील, 'अशील' (शील का अभाव) कहलाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का ज्ञान कुत्सित होने के कारण अज्ञान कहलाता है।

१५२ ज्ञान के फल (सदाचार) का अभाव होने से मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान है।

१५३ विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और साथ ही नित्य भी रहता है।

१५४ उपयोगयुक्त शुद्ध व्यक्ति के ज्ञान मे कुछ स्खलनाएँ होने पर भी वह शुद्ध ही है। उसी प्रकार धर्म क्रियाओ मे कुछ स्खलनाएँ होने पर भी उस शुद्धोपयोगी की सभी क्रियाएँ कर्मनिर्जरा की हेतु होती हैं।

१३१　अप्पत्त च ण वातेज्जा, पत्त च ण विमाणए।

—नि० भा० ६२३०

१३२　आमे घडे निहित्त, जहा जल तं घड विणासेति।
इय सिद्ध तरहस्स, अप्पाहार विणासेइ॥

—नि० भा० ६२४३

१३३　णाणं भावो ततो णऽण्णो।

—नि० भा० ६२९१

१३४　दुग्ग-विसमे वि न खलति, जो पंथे सो समे कहण्णु खले।

—नि० भा० ६६९८

१३५　सव्वे अ चक्कजोही, सव्वे अ हया सचक्केहिं।

—आवश्यक निर्युक्ति भाष्य ४३

१३६　ववहारोऽपि हु वलव, ज छउमत्थपि वंदई अरहा।
जा होइ अणाभिण्णो, जाणंतो धम्मयं एय॥

—आव० नि० भा० १२३

१३७　उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइय होइ।

—आव० नि० भा० १४९

१३८　सत्तभयविप्पमुक्के, तहा भवते भयते अ।

—आव० नि० भा० १८५

१३९. चित्त तिकालविसयं।

—दशवैकालिक निर्युक्ति भा० १९

१४०. अणिंदियगुणं जीव. दुन्नेयं मंसचक्खुणा।

—दशवै० नि० भा० ३४

१४१. णिच्चो अविणासि सासओ जीवो।

—दशवै० नि० भा० ४२

१४२. हेउप्पभवो बन्धो।

—दशवै० नि० भा० ४६

१३१. अपात्र (अयोग्य) को शास्त्र का अध्ययन नही कराना चाहिए, और पात्र (योग्य) को उससे वचित नही रखना चाहिए।

१३२. मिट्टी के कच्चे घडे मे रखा हुआ जल जिस प्रकार उस घडे को ही नष्ट कर डालता है, वैसे ही मन्दबुद्धि को दिया हुआ गम्भीर शास्त्र-ज्ञान, उसके विनाश के लिए ही होता है।

१३३. ज्ञान आत्मा का ही एक भाव है, इसलिए वह आत्मा से भिन्न नही है।

१३४. जो दुर्गम एव विषम मार्ग मे भी स्खलित नही होता है, वह सम अर्थात् सीधे, सरल मार्ग मे कैसे स्खलित हो सकता है ?

१३५ जितने भी चक्रयोधी (अश्वग्रीव, रावण आदि प्रति वासुदेव) हुए हैं, वे अपने ही चक्र से मारे गए हैं।

१३६ सघव्यवस्था मे व्यवहार वडी चीज है। केवली (सर्वज्ञ) भी अपने छद्मस्थ गुरु को स्वकर्तव्य समझकर तव तक वदना करते रहते हैं, जब तक कि गुरु उसकी सर्वज्ञता से अनभिज्ञ रहते हैं।

१३७ यतनापूर्वक साधना मे यत्नशील रहने वाला आत्मा ही सामायिक है।

१३८ सात प्रकार के भय से सर्वथा मुक्त होने वाले भदत 'भवान्त' या 'भयान्त' कहलाते हैं।

आत्मा की चेतना शक्ति त्रिकाल है।

१४०. आत्मा के गुण अनिन्द्रिय—अमूर्त हैं, अत वह चर्म चक्षुओ से देख पाना कठिन है।

१४१ आत्मा नित्य है, अविनाशी है, एव शाश्वत है।

१४२ आत्मा को कर्म वध मिथ्यात्व आदि हेतुओ से होता है।

१५५. चित्तण्णू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ।

—विशेषा० भा० ९३७

१५६. मिच्छत्तमयसमूह सम्मत्त ।

—विशेषा० भा० ९५४

१५७. अन्न पुट्ठो अन्नं जो साहइ, सो गुरु न बहिरोव्व ।
न य सीसो जो अन्नं सुणेइ, परिभासए अन्नं ।।

—विशेषा० भा० १४४३

१५८ वयण विण्णाणफलं, जइ त भणिएऽवि नत्थि कि तेण ?

—विशेषा० १५१३

१५९ सामाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सय चेव ।

—विशेषा० भा० १५२६

१६०. असुभो जो परिणामो सा हिंसा ।

—विशेषा० भा० १७६६

१६१. गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा मुच्छाहि निच्छयओ ।

—विशेषा० २५७३

१६२ इंदो जीवो सव्वोवलद्धि भोगपरमेसरत्तणओ ।

—विशेषा० २९९३

१६३. धम्मा-धम्मा न परप्पसाय—कोपाणुवत्तिओ जम्हा ।

—विशेषा० भा० ३२५४

१६४ विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ?

—विशेषा० भा० ३४६८

१५५ गुरुदेव के अभिप्राय को समझ कर उसके अनुकूल चलने वाला शिष्य सम्यग् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करता है।

१५६ (अनेकान्त दृष्टि से युक्त होने पर) मिथ्यात्वमतो का समूह भी सम्यक्त्व बन जाता है।

१५७ वहरे के समान—शिष्य पूछे कुछ और, बताए कुछ और—वह गुरु, गुरु नही है। और वह शिष्य भी शिष्य नहीं है, जो सुने कुछ और, कहे कुछ और।

१५८ वचन की फलश्रुति है—अर्थज्ञान ! जिस वचन के बोलने से अर्थ का ज्ञान नही हो तो उस 'वचन' से भी क्या लाभ ?

१५९. सामायिक मे उपयोग रखने वाला आत्मा स्वय ही सामायिक हो जाता है।

१६०. निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का अशुभ परिणाम ही हिंसा है।

१६१ निश्चय दृष्टि से विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी। यदि मूर्च्छा है तो परिग्रह है, मूर्च्छा नही है तो परिग्रह नही है।

१६२ सब उपलब्धि एव भोग के उत्कृष्ट ऐश्वर्य के कारण प्रत्येक जीव इन्द्र है।

१६३ धर्म और अधर्म का आधार आत्मा की अपनी परिणति ही है। दूसरो की प्रसन्नता और नाराजगी पर उसकी व्यवस्था नही है।

१६४ विनय जिनशासन का मूल है, विनीत ही संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका क्या धर्म, और क्या तप ?

चूर्णिसाहित्य की सूक्तियां

●

१. जो अहकारो, भणितं अप्पलक्खणं।

—आचारांग चूर्णि १।१।१

२. जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं।

—आचा० चू० १।१।६

३. असंतुट्ठाणं इह परत्थ य भय भवति।

—आचा० चू० १।२।२

४ ण केवलं वयबालो कज्जं अयाणओ बालो चेव।

—आचा० चू० १।२।३

५ विसयासत्तो कज्ज अकज्जं वा ण याणति।

—आचा० चू० १।२।४

६ काले चरतस्स उज्जमो सफलो भवति।

—आवा० चू० १।२।५

७ ण दीणो ण गव्वितो।

—आचा० चू० १।२।५

८. धम्मे अणुज्जुत्तो सीयलो, उज्जुत्तो उण्हो।

—आचा० चू० १।३।१

चूर्णिसाहित्य की सूक्तियां

१. यह जो अन्दर मे 'अह' की—'मैं' की—चेतना है, यह आत्मा का लक्षण है।

२. जैसे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दु ख मुझे होते हैं, वैसे ही सब जीवो को होते हैं।

३. असंतुष्ट व्यक्ति को यहा, वहा सर्वत्र भय रहता है।

४. केवल अवस्था से ही कोई वाल (वालक) नही होता, किन्तु जिसे अपने कर्तव्य का ज्ञान नही है वह भी 'वाल' ही है।

५ विपयासक्त को कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध नही रहता।

३. उचित समय पर काम करने वाले का ही श्रम सफल होता है।

७. साधक को न कभी दीन होना चाहिए और न अभिमानी।

८ धर्म मे उद्यमी=क्रियाशील व्यक्ति, उष्ण=गर्म है, उद्यमहीन शीतल=ठडा है।

९ ण याणंति अप्पणो वि, किन्नु अण्णेसिं ।

—आचा० चू० १।३।२

१०. अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, गच्छतो चिट्ठतो भुंजमाणस्स वा ।

—आचा० चू० १।३।४

११ ण चिय अग्गिधणे अग्गी दिप्पति ।

—आचा० चू० १।३।४

१२. जत्तियाइ असंजमट्ठाणाइ, तत्तियाइ संजमट्ठाणाइं ।

—आचा० चू० १।४।२

१३. कोयि केवलमेव गंथमेहावी भवति, ण तु जहातहं पडितो ।

—आचा० चू० १।५।३

१४ रागदोसकरो वादो ।

—आचा० चू० १।७।१

१५ विवेगो मोक्खो ।

—आचा० चू० १।७।१

१६ जइ वणवासमित्तेण नाणी जाव तवस्सी भवति,
तेण सीहवग्घादयो वि ।

—आचा० चू० १।७।१

१७ छुहा जाव सरीर, ताव अत्थि ।

—आचा० चू० १।७।३

१८ न वृद्धो भूत्वा पुनरुत्तानशायी क्षीराहारो बालको भवति ।

—सूत्र कृतांग चूर्णि १।२।२

१९ आरंभपूर्वको परिग्रह ।

—सूत्र० चू० १।२।२

२०. समभाव. सामाइयं ।

—सूत्र० चू० १।२।२

२१. चित्तं न दूषयितव्यं ।

—सूत्र० चू० १।२।२

९ जो अपने को ही नही जानता, वह दूसरो को क्या जानेगा ?

१०. अप्रमत्त (सदा सावधान) को चलते, खडे होते, खाते, कही भी कोई भय नही है।

११ विना ईधन के अग्नि नही जलती।

१२. विश्व मे जितने असयम के स्थान (कारण) है, उतने ही सयम के स्थान (कारण) हैं।

१३ कुछ लोग केवल ग्रथ के पडित (शब्द-पडित) होते हैं, 'यथार्थ पडित' (भावपडित) नही होते।

१४ प्रत्येक 'वाद' रागद्वेप की वृद्धि करने वाला है।

१५ वस्तुत विवेक ही मोक्ष है।

१६ यदि कोई वन मे रहने मात्र से ही ज्ञानी और तपस्वी हो जाता है, तो फिर सिह, वाघ आदि भी ज्ञानी, तपस्वी हो सकते हैं।

१७. जव तक शरीर है तव तक भूख है।

१८ वूढा होकर कोई फिर उत्तानशायी दूधमुहा वालक नही हो सकता।

१९. परिग्रह (धनसंग्रह) विना हिंसा के नही होता।

२० समभाव ही सामायिक है।

२१ कर्म करो, किंतु मन को दूपित न होने दो।

२२. समाधिर्नाम रागद्वेषपरित्यागः ।

—सूत्र० चू० १।२।२

२३ न हि सुखेन सुख लभ्यते ।

—सूत्र० चू० १।३।४

२४ न निदानमेव रोगचिकित्सा ।

—सूत्र० चू० १।१२

२५ कर्मभीता कर्माण्येव वर्द्धयन्ति ।

—सूत्र० चू० १।१२

२६ ज्ञानधनानां हि साधूना किमन्यद् वित्तं स्यात् ?

—सूत्र० चू० १।१४

२७. सयणे सुवतो साधू, साधुरेव भवति ।

—सूत्र० चू० १।१४

२८. शरीरधारणार्थं स्वपिति, निद्रा हि परमं विश्रामण ।

—सूत्र० चू० १।१४

२९. गेहंमि अग्गिजालाउलमि, जह णाम डज्झमाणंमि ।
जो बोहेइ सुयतं, सो तस्स जणो परमबंधू ॥

—सूत्र० चू० १।१४

३० मणसंजमो णाम अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरण वा ।

—दशवैकालिक चूर्णि, अध्ययन १

३१. साहुणा सागरो इव गंभीरेण होयव्वं ।

—दशवै० चू० १

३२. मइलो पडो रगिओ न सुंदरं भवइ ।

—दशवै० चू० ४

३३. अरत्त-दुट्ठस्स परिभुंजतस्स ण परिग्गहो भवति ।

—दशवै० चू० ६

३४. कोवाकुलचित्तो ज संतमवि भासति, त मोसमेव भवति ।

—दशवै० चू० ७

२२. रागद्वेष का त्याग ही समाधि है।

२३ सुख से (आसानी से) सुख नही मिलता।

२४. केवल निदान (रोगपरीक्षा) ही रोग की चिकित्सा नही है।

२५ कर्मों से डरते रहने वाले प्राय. कर्म ही बढाते रहते हैं।

२६ जिन के पास ज्ञान का ऐश्वर्य है, उन साधु पुरुषो को, और क्या ऐश्वर्य चाहिए ?

२७ वाहर मे शय्या पर सोता हुआ भी साधु, (अन्दर मे जागृत रहने से) साधु ही है, असाधु नही।

२८ साधक स्वास्थ्य रक्षा के लिए ही सोता है, क्यो कि निद्रा भी वहुत वड़ी विश्रान्ति है।

२९ अग्नि की ज्वालाओ से जलते हुए घर मे सोए व्यक्ति को, यदि कोई जगा देता है, तो वह उसका सर्वश्रेष्ठ वंधु है।

३० अकुशल मन का निरोध और कुशलमन का प्रवर्तन—मन का सयम है।

३१ सावु को सागर के समान गभीर होना चाहिए।

३२ मलिन वस्त्र रगने पर भी सु दर नही होता।

३३ राग द्वेप से रहित साधक वस्तु का परिभोग (उपयोग) करता हुआ भी परिग्रही नही होता।

३४ क्रोध से क्षुब्ध हुए व्यक्ति का सत्य भाषण भी असत्य ही है।

३५ जं भासं भासतस्स सच्चं मोस वा चरित्त विसुज्झइ,
सव्वा वि सा सच्चा भवति ।
ज पुरा भासमाणस्स चरित्त न सुज्झति,
सा मोसा भवति ।

—दशवै० चू० ७

३६ न धर्मकथामन्तरेण दर्शनप्राप्तिरस्ति ।

—उत्तराध्ययन चूर्णि, अध्ययन १

३७ सव्वणाणुत्तर सुयणाण ।

—उत्त० चू० १

३८ न विनयशून्ये गुणावस्थानम् ।

—उत्त० चू० १

३९. यदा निरुद्धयोगास्रवो भवति, तदा जीवकर्मणो पृथक्त्वं भवति ।

—उत्त० चू० १

४०. पापादृडीन—पडित. ।

—उत्त० चू० १

४१. पुरुषस्य हि भुजावेव पक्षौ ।

—उत्त० चू० १

४२ पासयति पातयति वा पाप ।

—उत्त० चू० २

४३ समो सव्वत्थ मणो जस्स भवति स समणो ।

—उत्त० चू० २

४४. मनसि शेते—मनुष्य ।

—उत्त० चू० ३

४५ मरणमपि तेषां जीवितवद् भवति ।

—उत्त० चू० ५

४६. सर्वो हि आत्मगृहे राजा ।

—उत्त० चू० ७

३५. जिस भाषा को बोलने पर—चाहे वह सत्य हो या असत्य—चारित्र की शुद्धि होती है तो वह सत्य ही है। और जिस भाषा के बोलने पर चारित्र की शुद्धि नहीं होती–चाहे वह सत्य ही क्यो न हो—असत्य ही है। अर्थात् साधक के लिए शब्द का महत्व नही, भावना का महत्व है।

३६. धर्म कथा के बिना दर्शन (सम्यक्त्व) की उपलब्धि नही होती।

३७. साधना की दृष्टि से श्रुत ज्ञान सब ज्ञानो मे श्रेष्ठ है।

३८. विनयहीन व्यक्ति मे सद्‌गुण नही ठहरते।

३९. जब आत्मा मन, वचन, काया की चचलतारूप योगास्रव का पूर्ण निरोध कर देता है, तभी सदा के लिए आत्मा और कर्म पृथक् हो जाते हैं।

४०. जो पाप से दूर रहता है, वह पडित है।

४१. मनुष्य की अपनी दो भुजाए ही उसकी दो पाखे हैं।

४२. जो आत्मा को बाधता है, अथवा गिराता है, वह पाप है।

४३. जिस का मन सर्वत्र सम रहता है, वह समण (श्रमण) है।

४४. जो मन मे सोता है—अर्थात् चिंतन मनन मे लीन रहता है, वह मनुष्य है

४५. उच्च आदर्श से लिए श्रेष्ठ पुरुषो का मरण भी, जीवन के समान है।

४६. अपने घर मे हर कोई राजा होता है।

४७ परिणिव्वुतो णाम रागद्दोसविमुक्के ।

—उत्त० चू० १०

४८ यस्तु आत्मन. परेषा च शान्तये, तद् भावतीर्थं भवति ।

—उत्त० चू० १२

४९ शरीरलेश्यासु हि अशुद्धास्वपि आत्मलेश्या शुद्धा भवन्ति ।

—उत्त० चू० १२

५० द्रव्यब्रह्म अज्ञानिना वस्तिनिग्रह, मोक्षाधिकारशून्यत्वात् ।

—उत्त० चू० १६

५१ देशकालानुरूपं धर्म कथयन्ति तीर्थंकरा ।

—उत्त० चू० २३

५२ परमार्थतस्तु ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षकारण, न लिंगादीनि ।

—उत्त० चू० २३

५३. स्थिरीकरणात् स्थविर. ।

—उत्त० चू० २७

५४ अमुक्तस्य च निर्वृति र्नास्ति ।

—उत्त० चू० २८

५५. जो अप्पणो परस्स वा आवतीए वि न परिच्चयति, सो वधू ।

—नदी सूत्र, चूर्णि १

५६ सव्वसत्ताण अहिंसादिलक्खणो धम्मो पिता, रक्खणत्तातो ।

—नदी० चू० १

५७. चिंतिज्जइ जेण त चित्त ।

—नदी० चू० २।१३

५८ विसुद्धभावत्तणतो य सुगंध ।

—नदी० चू० २।१३

५९ विविहकुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा ।

—नदी० चू० २।१६

४७. राग और द्वेष से मुक्त होना ही परिनिर्वाण है।

४८. जो अपने को और दूसरो को शान्ति प्रदान करता है, वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप भावतीर्थ है।

४९ बाहर मे शरीर की लेश्या (वर्ण आदि) अशुद्ध होने पर भी अन्दर मे आत्मा की लेश्या (विचार) शुद्ध हो सकती है।

५०. अज्ञानी साधको का चित्तशुद्धि के अभाव मे किया जाने वाला केवल-जननेन्द्रिय-निग्रह द्रव्य ब्रह्मचर्य है, क्योकि वह मोक्षाधिकार से शून्य है।

५१. तीर्थङ्कर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते हैं।

५२ परमार्थ दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, वेष आदि नही।

५३, जो अपने को और दूसरो को साधना मे स्थिर करता है–वह स्थविर है।

५४. मुक्त हुए विना शान्ति प्राप्त नही होती।

५५ जो अपने या दूसरे के सकट काल मे भी अपने स्नेही का साथ नही छोडता है, वह बधु है।

५६ अहिंसा, सत्य आदि धर्म सव प्राणियो का पिता है, क्यो कि वही सव का रक्षक है।

५७. जिस से चिंतन किया जाता है, वह चित्त है।

५८. विशुद्ध भाव अर्थात् पवित्र विचार ही जीवन की सुगध है।

५९. विविध कुल एव जातियो मे उत्पन्न हुए साधु पुरुष पृथ्वी पर के कल्प वृक्ष है।

६० भूतहित त्ति अहिंसा।

—नंदी० चू० ५।३८

६१ स्व-परप्रत्यायक श्रुतनाणं।

—नंदी० चू० ४४

६२ खंडसजुत खीरं पित्तजरोदयतो ण सम्म भवइ।

—नंदी० चू० ७१

६३ अणेगधा जाणमाणो विण्णाता भवति।

—नंदी० चू० ८५

४२ संघयणा भावा उच्छाहो न भवति।

—दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि, पृ० ३

६५ सिसस्स वा विणयादिजुतस्स दिंतो निरिणो भवति।

—दशा० चू०, पृ० २३

६६. मोक्खत्थं आहार-विहाराइसु अहिगारो कीरति।

—निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा, ११

६७ णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जराहेऊ भवति।
अकाले पुण उवघायकरं कम्मबंधाय भवति॥

—नि० चू० ११

६८. विणओववेयस्स इह परलोगे वि विज्जाओ फलं पयच्छति।

—नि० चू० १३

६९ मोहो विण्णाण विवच्चासो।

—नि० चू० २६

७०. अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं॥

—नि० चू० ४६

७१. तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो।

—नि० चू० ४६

७२ भावे णाणावरणातीणि पंको।

—नि० चू० ७०

६० प्राणियों का हित अहिंसा है।

६१. स्व और पर को वोध कराने वाला ज्ञान—श्रुत ज्ञान है।

६२. खाड मिला हुआ मधुर दूध भी पित्तज्वर मे ठीक नही रहता।

६३. वस्तु स्वरूप को अनेक दृष्टियो से जानने वाला ही विज्ञाता है।

६४ सहनन (शारीरिक शक्ति) क्षीण होने पर धर्म करने का उत्साह नही होता।

६५. गुरु, शिष्य को ज्ञानदान कर देने पर अपने गुरु के ऋण से मुक्त हो जाता है।

६६ साधक के आहार-विहार आदि का विधान मुक्ति के हेतु किया गया है।

६७ विवेकज्ञान का विपर्यास ही मोह है।

६८ शास्त्र का अध्ययन उचित समय पर किया हुआ ही निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा वह हानि कर तथा कर्मवध का कारण वन जाता है।

६९ विनयशील साधक की विद्याए यहा वहा (लोक परलोक मे) सर्वत्र सफल होती हैं।

७०. अज्ञान से सचित कर्मों के उपचय को रिक्त करना—चारित्र है।

७१ जिस साधना से पाप कर्म तप्त होता है, वह तप है।

७२ भाव दृष्टि से ज्ञानावरण (अज्ञान) आदि दोप आभ्यतर पक हैं।

७३ तवस्स मूलं धिती ।

—नि० चू० ८४

७४. पमाया दप्पो भवति अप्पमाया कप्पो ।

—नि० चू० ९१

७५ सति पाणातिवाए अप्पमत्तो अवहगो भवति,
एव असति पाणातिवाए पमत्तताए वहगो भवति ।

—नि० चू० ९२

७६ णाणातिकारणावेक्ख अकप्पसेवणा कप्पो ।

—नि० चू० ९२

७७ माया-लोभेहिंतो रागो भवति ।
कोह-माणेहिं तो दोसो भवति ॥

—नि० चू० १३२

७८ गेलण्णे य बहुतरा संजमविराहणा ।

—नि० चू० १७५

७९. निब्भएण गंतव्वं ।

—नि० चू० २७३

८०. णिट्ठुर णिण्हेहवयण खिंसा ।
मउय सिणेहवयण उवालंभो

—नि० चू० २६३७

८१. समभावोसामायिय, तं सकसायस्स णो विसुज्झेज्जा ।

—नि० चू० २८४६

८२. गुणकारित्तणातो ओमं भोत्तव्वं ।

—नि० चू० २९५१

८३. पुन्नं मोक्खगमणविग्घाय हवति ।

—नि० चू० ३३२९

८४. यत्रात्मा तत्रोपयोग, यत्रोपयोग स्तत्रात्मा ।

—नि० चू० ३३३२

७३. तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है ।

७४. प्रमाद भाव से किया जाने वाला अपवादसेवन दर्प होता है और वही अप्रमाद भाव से किया जाने पर कल्प=आचार हो जाता है ।

७५. प्राणातिपात, होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है, और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है ।

७६ ज्ञानादि की अपेक्षा से किया जाने वाला अकल्पसेवन भी कल्प है ।

७७ माया और लोभ से राग होता है ।
क्रोध और मान से द्वेष होता है ।

७८. रोग हो जाने पर बहुत अधिक सयम की विराधना होती है ।

७९. जीवन पथ पर निर्भय होकर विचरण करना चाहिए ।

८०. स्नेहरहित निष्ठुर वचन खिसा (फटकार) है, स्नेहसिक्त मधुर वचन उपालभ (उलाहना) है ।

८१ समभाव सामायिक है, अत कषायुक्त व्यक्ति का सामायिक विशुद्ध नही होता ।

८२. कम खाना गुणकारी है ।

८३. परमार्थ दृष्टि से पुण्य भी मोक्ष प्राप्ति मे विघातक=बाधक है ।

८४ जहा आत्मा है, वहा उपयोग (चेतना) है, जहा उपयोग है वहा आत्मा है ।

८५ यत्र तप, तत्र नियमात्संयम ।
यत्र संयम., तत्रापि नियमात् तप. ।

—नि० चू० ३३३२

८६ अन्नं भासइ अन्न करेइ त्ति मुसावाओ ।

—नि० चू० ३९८८

८७. आवत्तीए जहा अप्प रक्खंति,
तहा अण्णोवि आवत्तीए रक्खियव्वो ।

—नि० चू० ५९४२

८८. णाणदसणविराहणाहिं णियमा चरणविराहणा ।

—नि० चू० ६१७८

८९ दव्वेण भावेण वा, ज अप्पणो परस्स वा
उवकारकरण, त सव्व वेयावच्चं ॥

—नि० चू० ६६०५

९०. पमायमूलो वधो भवति ।

—नि० चू० ६६८९

८५. जहा तप है वहा नियम से संयम है, और जहा संयम है वहा नियम से तप है।

८६ 'कहना कुछ और करना कुछ'—यही मृषावाद (असत्य भाषण) है।

८७ आपत्तिकाल मे जैसे अपनी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरो की भी रक्षा करनी चाहिए।

८८. ज्ञान और दर्शन की विराधना होने पर चारित्र की विराधना निश्चित है।

८९ भोजन, वस्त्र आदि द्रव्य रूप से, और उपदेश एव सत्प्रेरणा आदि भाव-रूप से, जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब वैय्यावृत्य है।

९०. कर्मबंध का मूल प्रमाद है।

ॐ

सूक्तिकरण

●

१. एगे आया।

—समवायांग १।१

२. विणयमूले धम्मे पन्नत्ते।

—ज्ञाता धर्मकथा १।५

३. रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण चेव
पक्खालिज्जमाणस्स णत्थि सोही॥

—ज्ञाता० १।५

४. अहं अव्वए वि, अहं अवट्ठिए वि।

—ज्ञाता० १।५

५. भोगेहिं य निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं।

—ज्ञाता० १।६

६. सुरूवा वि पोग्गला दुरूवत्ताए परिणमंति,
दुरूवा वि पोग्गला सुरूवत्ताए परिणमंति।

—ज्ञाता० १।१२

७ चक्खिदियदुद्दंतत्तणस्स, अह एत्तिओ हवइ दोसो।
ज जलणंमि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धीओ॥

—ज्ञाता० १।१७।४

सूक्तिकरण

●

१. स्वरूपदृष्टि से सब आत्माए एक (समान) हैं ।

२. धर्म का मूल विनय=आचार है ।

३. रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नही होता ।

४. मैं (आत्मा) अव्यय=अविनाशी हूँ, अवस्थित=एकरस हूँ ।

५ जो विषय भोगो से निरपेक्ष रहते हैं, वे ससार वन को पार कर जाते हैं ।

६. सुरूप पुद्गल (सु दर वस्तुए) कुरूपता मे परिणत होते रहते हैं और कुरूप पुद्गल सुरूपता मे ।

७ चक्षुष् इन्द्रिय की आसक्ति का इतना बुरा परिणाम होता है कि मूर्ख पतगा जलती हुई आग मे गिर कर मरजाता है ।

८ सयस्स वि य णं कुडुंबस्स मेढीपमाणं,
आहारे, आलंवणं, चक्खू ।

—उपासक दशा १।५

९. काल अणवकखमाणे विहरइ ।

—उपा० १।७३

१०. सजमेणं तवसा अप्पाणे भावे माणे विहरइ ।

—उपा० १।७६

११ भारिया धम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया,
धम्माणुरागरत्ता समसुहदुक्खसहाइया ।

—उपा० ७।२२७

१२ जलबुब्बुयसमाण कुसग्गजलबिंदुचचल जीवियं ।

—औपपातिक सूत्र २३

१३. निरुवलेवा गगणमिव, निरालवणा अणिलो इव ।

—औप० २७

१४. अजिय जिणाहि, जिय च पालेहि ।

—औप० ५३

१५ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवति ॥

—औप० ५६

१६ धम्मं ण आइक्खमाणा तुब्भे उवसम आइक्खह,
उवसमं आइक्खमाणा विवेग आइक्खह ।

—औप० ५८

१७ ण वि अत्थि माणुसाण, तं सोक्ख ण वि य सव्व देवाण ।
ज सिद्धाण सोक्ख, अव्वाबाहं उवगयाण ॥

—औप० १८०

८. गृहस्थ को अपने परिवार मे मेढीभूत (स्तभ के समान उत्तरदायित्व वहन करने वाला), आधार, आलवन और चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक बनना चाहिए ।

९ साधक कष्टो से जूझता हुआ काल=मृत्यु से अनपेक्ष होकर रहे ।

१०. साधक सयम और तप से आत्मा को सतत भावित करता रहे ।

११ पत्नी—धर्म मे सहायता करने वाली, धर्म की साथी, धर्म मे अनुरक्त तथा सुख दु ख मे समान साथ देने वाली होती है ।

१२. जीवन पानी के बुलबुले के समान और कुशा की नोक पर स्थित जल-बिन्दु के समान चचल है ।

१३. सत जन आकाश के समान निरवलेप और पवन के समान निरालव होते हैं ।

१४ राजनीति का सूत्र है—'नही जीते हुए शत्रुओ को जीतो, और जीते हुओ का पालन करो ।'

१५. अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है ।
बुरे कर्म का बुरा फल होता है ।

१६ प्रभो ! आपने धर्म का उपदेश देते हुए उपशम का उपदेश दिया और उपशम का उपदेश देते हुए विवेक का उपदेश दिया ।

१७ ससार के सब मनुष्यो और सब देवताओ को भी वह सुख प्राप्त नही है, जो सुख अव्याबाध स्थिति को प्राप्त हुए मुक्त आत्माओ को है ।

१८. जे से पुरिसे देति वि, सण्णवेइ वि से ण ववहारी।
जे से पुरिसे नो देति, नो सण्णवेइ से ण अववहारी।

—राजप्रश्नीय ४।७०

१६ जत्थेव धम्मायरिय पासेज्जा, तत्थेव वदिज्जा नमंसिज्जा।

—राजप्र० ४।७६

२० मा ण तुमं पदेसी !
पुव्व रमणिज्जे भवित्ता, पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि।

—राजप्र० ४।८२

२१. सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयणाण,
मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाण।

—नदी सूत्र ४४

२२. सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणतभागो णिच्चुग्घाडियो।

—नदी० ७५

२३. सुट्ठु वि मेहसमुदए होंति पभा चद-सूराण।

—नदी० ७५

२४, अणुवओगो दव्व।

—अनुयोग द्वार सू० १३

२५. सित्थेण दोणपाग, कविं च एक्काए गाहाए।

—अनु० ११६

२६. जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमे णिअमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥[१]

—अनु० १२७

२७. जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ।
तस्स सामाइय होइ, इइ केवलिभासिअं ॥[२]

—अनु० १२८

२८. जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ अ, सममणइ तेण सो समणो ॥

—अनु० १२६

१—नियमसार १२७। २—नियमसार १२६।

१८ जो व्यापारी ग्राहक को अभीष्ट वस्तु देता है और प्रीतिवचन से सतुष्ट भी करता है, वह व्यवहारी है। जो न देता है और न प्रीतिवचन से सतुष्ट ही करता है वह अव्यवहारी है।

१६ जहां कही भी अपने धर्माचार्य को देखें, वही पर उन्हे वन्दना नमस्कार करना चाहिए।

२०. हे राजन्! तुम जीवन के पूर्वकाल मे रमणीय होकर उत्तर काल मे अरमणीय मत वन जाना।

२१ सम्यक् दृष्टि का श्रुत, श्रुत ज्ञान है।
मिथ्या दृष्टि का श्रुत, श्रुत अज्ञान है।

२२ सभी ससारी जीवो का कम से कम अक्षर-ज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो सदा उद्घाटित ही रहता है।

२३ घने मेघावरणो के भीतर भी चद्र सूर्य की प्रभा कुछ-न-कुछ प्रकाशमान रहती ही है।

२४. उपयोगशून्य साधना द्रव्य है, भाव नही।

२५. एक कण से द्रोण[1] भर पाक की, और एक गाथा से कवि की परीक्षा हो जाती है।

२६. जिस की आत्मा संयम मे, नियम मे एव तप मे सन्निहित=तल्लीन है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

२७ जो त्रस (कीट, पतगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सव जीवो के प्रति सम है अर्थात् समत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

२८ जिस प्रकार मुझ को दु ख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवो को दु ख प्रिय नही है, जो ऐसा जानकर न स्वय हिंसा करता है, न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा 'समण' है।

१—१६ या ३२ सेर का एक तौल विशेष। —सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।

२९. तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अ जणे अ समो, समो अ माणावमाणेसु॥
—अनु० १३२

३० उवसमसार खु सामण्ण।
—बृहत्कल्प सूत्र १।३५

३१ जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा।
—बृह० १।३५

३२. आगमबलिया समणा निग्गंथा।
—व्यवहार सूत्र १०

३३ गिलाण वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे,
महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।
—व्यवहार० १०

३४ चत्तारि पुरिसजाया—
रूवेणाम एगे जहइ णो धम्मं।
धम्मेणाम एगे जहइ णो रूवं।
एगे रूवे वि जहइ धम्मं पि,
एगे णो रूवं जहइ णो धम्मं।
—व्यवहार० १०

३५. ओयं चित्त समादाय भाणं समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ॥
—दशा श्रुतस्कंध ५।१

३६. णेम चित्त समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।
—दशा० ५।२

३७ अप्पाहारस्स दतस्स, देवा दसेति ताइणो।
—दशा० ५।४

३८. सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिञ्चमाणे ण रोहति।
एव कम्मा न रोहति, मोहणिज्जे खयं गते॥
—दशा० ५।१४

२९. जो मन से सु-मन (निर्मल मन वाला) है, सकल्प से भी कभी पापोन्मुख नही होता, स्वजन तथा परजन मे, मान एव अपमान मे सदा सम रहता है, वह 'समण' होता है।

३०. श्रमणत्व का सार है—उपशम।

३१. जो कषाय को शान्त करता है, वही आराधक है। जो कषाय को शात नही करता, उसकी आराधना नही होती।

३२. श्रमण निर्ग्रन्थो का वल 'आगम' (शास्त्र) ही है।

३३. रुग्ण साथी की सेवा करता हुआ श्रमण महान् निर्जरा और महान् पर्य-वसान (परिनिर्वाण) करता है।

३४. चार तरह के पुरुष हैं—
कुछ व्यक्ति वेष छोड़ देते हैं, किंतु धर्म नही छोडते।
कुछ धर्म छोड़ देते हैं, किंतु वेष नही छोड़ते।
कुछ वेष भी छोड देते हैं और धर्म भी।
और कुछ ऐसे होते हैं जो न वेष छोडते हैं, और न धर्म।

३५. चित्तवृत्ति निर्मल होने पर ही ध्यान की सही स्थिति प्राप्त होती है। जो विना किसी विमनस्कता के निर्मल मन से धर्म मे स्थित है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।

३६ निर्मल चित्त वाला साधक ससार मे पुन. जन्म नही लेता।

३७. जो साधक अल्पाहारी है, इन्द्रियो का विजेता है, सभी प्राणियो के प्रति रक्षा की भावना रखता है, उसके दर्शन के लिए देव भी आतुर रहते है।

३८. जिस वृक्ष की जड सूख गई हो, उसे कितना ही सीचिए, वह हरा भरा नही होता। मोह के क्षीण होने पर कर्म भी फिर हरे भरे नही होते।

३९ जहा दड्ढाण वीयाण, ण जायति पुणंकुरा।
कम्मवीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवकुरा ॥

—दशा० ५।१५

४०. धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्त-कम्मुणा।
अदुवा तुम कासित्ति, महामोह पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।८

४१. जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासइ।
अक्खीण-झंझे पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।९

४२ ज निस्सिए उव्वहइ, जससाहिगमेण वा।
तस्स लुब्भइ वित्तं पि, महामोहं पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।१५

४३. बहुजणस्स णेयारं, दीव-ताण च पाणिणं।
एयारिसं नरं हता, महामोह पकुव्वइ ॥

—दशा० ९।१७

४४. नाणी नव न बन्धइ।

—दशवैकालिक निर्युक्ति ३१६

४५ हिअ-मिअ-अफरुसवाई, अणुवीइभासि वाइओविणओ।

—दशवै० नि० ३२२

४६. तण-कट्ठेहि व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउ कामभोगेउं ॥

—आतुर प्रत्याख्यान ५०

४७. गहिओ सुग्गइमग्गो, नाह मरणस्स वीहेमि।

—आतुर० ६३

४८. धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं।
दुण्ह पि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउ ॥

—आतुर० ६४

३६. बीज जब जल जाता है तो उससे नवीन अकुर प्रस्फुटित नही हो सकता। ऐसे ही कर्म बीज के जल जाने पर उससे जन्ममरणरूप अकुर प्रस्फुटित नही हो सकता।

४० जो अपने किए हुए दुष्कर्म को दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर डाल कर उसे लाछित करता है कि यह "पाप तूने किया है", वह महामोह कर्म का बंध करता है।

४१. जो सही स्थिति को जानता हुआ भी सभा के बीच मे अस्पष्ट एवं मिश्र भाषा (कुछ सच कुछ झूठ) का प्रयोग करता है, तथा कलह-द्वेष से युक्त है, वह महामोह रूप पाप कर्म का बंध करता है।

४२. जिसके आश्रय, परिचय तथा सहयोग से जीवनयात्रा चलती हो उसी की सपत्ति का अपहरण करने वाला दुष्ट जन महामोह कर्म का बध करता है।

४३. दु खसागर मे डूबे हुए दु खी मनुष्यो का जो द्वीप के समान सहारा होता है, जो बहुजन समाज का नेता है, ऐसे परोपकारी व्यक्ति की हत्या करने वाला महामोह कर्म का बध करता है।

४४. ज्ञानी नवीन कर्मों का बन्ध नही करता।

४५. हित, मित, मृदु और विचार पूर्वक बोलना वाणी का विनय है।

४६. जिस प्रकार तृण, काष्ट से अग्नि,तथा हजारो नदियो से समुद्र तृप्त नही होता है, उसी प्रकार रागासक्त आत्मा काम-भोगो से तृप्त नही हो पाता।

४७. मैंने सद्गति का मार्ग (धर्म) अपना लिया है, अब मैं मृत्यु से नही डरता।

४८ धीर पुरुष को भी एक दिन अवश्य मरना है, और कायर को भी, जब दोनो को ही मरना है तो अच्छा है कि धीरता (शान्त भाव) से ही मरा जाय।

४९. दंसणभट्ठो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाण।
—भक्तपरिज्ञा ६६

५०. जह मक्कडओ खणमवि, मज्झत्थो अच्छिउं न सक्केइ।
तह खणमवि मज्झत्थो, विसएहिं विणा न होइ मणो॥
—भक्त० ८४

५१. धम्ममहिंसासम नत्थि।
—भक्त० ९१

५२. जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
—भक्त० ९३

५३ अगीअत्थस्स वयणेण, अमयपि न घुंटए।
—गच्छाचार ४६

५४. जेण विरागो जायइ, त त सव्वायरेण कायव्व।
—महाप्रत्याख्यान १०६

५५ सो नाम अणसणतवो, जेण मणो मगुल न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति॥
—मरणसमाधि १३४

५६ किं इत्तो लट्ठयर अच्छेरययं व सुंदरतरं वा?
चदमिव सव्वलोगा, बहुस्सुयमुहं पलोयंति।
मरण० १४४

५७ नाणेण य करणेण य दोहि वि दुक्खक्खय होइ।
—मरण० १४७

५८. अत्थो मूल अणत्थाण।
—मरण० ६०३

५९. न हु पाव हवइ हिय, विस जहा जीवियत्थिस्स।
—मरण० ६१३

६०. हुंति गुणकारगाइ, सुयरज्जूहिं धणिय नियमियाइं।
नियगाणि इंदियाइ, जइणो तुरगा इव सुदंता॥
—मरण० ६२२

४९. जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वस्तुत वही भ्रष्ट है, पतित है। क्योंकि दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्त नही होता।

५० जैसे वदर क्षण भर भी शात होकर नही वैठ सकता, वैसे ही मन भी सकल्प विकल्प से क्षण भर के लिए भी शात नही होता।

५१ अहिसा के समान दूसरा धर्म नही है।

५२ किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुत अपनी ही हत्या है, और अन्य जीव की दया अपनी ही दया है।

५३ अगीतार्थ=अज्ञानी के कहने से अमृत भी नही पीना चाहिए।

५४ जिस किसी भी क्रिया से वैराग्य की जागृति होती हो, उसका पूर्ण श्रद्धा के साथ आचरण करना चाहिए।

५५. वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिस से कि मन अमगल न सोचे, इन्द्रियो की हानि न हो और नित्यप्रति की योग-धर्म क्रियाओ मे विघ्न न आए।

५६ इससे वढकर मनोहर, सुदर और आश्चर्यकारक क्या होगा कि लोग वहुश्रुत के मुख को चन्द्र-दर्शन की तरह देखते रहते हैं।

५७ ज्ञान और चारित्र—इन दोनो की साधना से ही दुःख का क्षय होता है।

५८. अर्थ अनर्थों का मूल है।

५९ जैसे कि जीवितार्थी के लिए विष हित कर नहीं होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नही है।

६०. ज्ञान की लगाम से नियत्रित होने पर अपनी इन्द्रिया भी उसी प्रकार लाभकारी हो जाती हैं, जिस प्रकार लगाम से नियत्रित तेज दौड़ने वाला घोड़ा।

६१. माणुसजाई वहुविचित्ता ।

—मरण० ६४०

६२. सव्वत्थेसु सम चरे ।

—इसिभासियाइं १।८

६३ मूलसित्ते फलुप्पत्ती, मूलघाते हत फलं ।

—इसि० २।६

६४ मोहमूलाणि दुक्खाणि ।

—इसि० २।७

६५ खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति ।
एवं रागो व दोसो य, वंभचेरविणासणो ।

—इसि० ३।७

६६ सक्का वण्ही णिवारेतु, वारिणा जलितो वहिं ।
सव्वोदही जलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ।।

—इसि० ३।१०

६७ मणुस्सहिदय पुणिणं, गहणं दुव्वियाणक ।

—इसि० ४।६

६८. संसारसंतईमूल, पुण्ण पाव पुरेकडं ।

—इसि० ६।२

६९ पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्प डसइ पत्थरं ।
मिगारिऊ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं विमग्गति ।।

—इसि० १५।२०

७०. अण्णाणं परम दुक्खं, अण्णाणा जायते भय ।
अण्णाणमूलो ससारो, विविहो सव्वदेहिणं ।।

—इसि० २१।१

७१. सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साहुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ।।

—इसि० २२।१३

६१. मानवजाति बहुत विचित्र है।

६२. साधक को सर्वत्र सम रहना चाहिए।

६३. मूल को सीचने पर ही फल लगते हैं। मूल नष्ट होने पर फल भी नष्ट हो जाता है।

६४ दु खो का मूल मोह है।

६५. जरा सी खटाई भी जिस प्रकार दूध को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार राग-द्वेष का सकल्प संयम को नष्ट कर देता है।

६६. वाहर मे जलती हुई अग्नि को थोडे से जल से शात किया जा सकता है। किंतु मोह अर्थात् तृष्णा रूप अग्नि को समस्त समुद्रो के जल से भी शात नही किया जा सकता।

६७ मनुष्य का मन वडा गहरा है, इसे समझ पाना कठिन है।

६८. पूर्व कृत पुण्य और पाप ही ससार परम्परा का मूल है।

६९. पत्थर से आहत होने पर कुत्ता आदि क्षुद्र प्राणी पत्थर को ही काटने दौडता है (न कि पत्थर मारने वाले को), किंतु सिंह वाण से आहत होने पर वाण मारने वाले की ओर ही झपटता है।
[अज्ञानी सिर्फ प्राप्त सुख दु.ख को देखता है, ज्ञानी उसके हेतु को।]

७० अज्ञान सवमे वडा दु ख है। अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, सव प्राणियो के ससार भ्रमण का मूल कारण अज्ञान ही है।

७१. आत्मधर्म की साधना मे ध्यान का प्रमुख स्थान है जैसे कि शरीर मे मस्तक का, तथा वृक्ष के लिए उसकी जड का।

७२ सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा।
पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ॥

—इसि० ३३।४

७३. हेमं वा आयसं वावि, बंधणं दुक्खकारणा।
महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाए दुक्खसपदा ॥

—इसि० ४५।५

७४. उप्पज्जंति वियंति य, भावा नियमेण पज्जवनयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥

—सन्मतिप्रकरण १।११

७५ दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा, हंदि दवियलक्खणं एय ॥

—सन्मति० १।१२

७६ तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उ ण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥

—सन्मति० १।२१

७७. ण वि अत्थि अण्णवादो, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि।

—सन्मति० ३।२६

७८ जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥

—सन्मति० ३।४७

७९. दव्व खित्तं कालं, भावं पज्जाय देस संजोगे।
भेद पडुच्च समा, भावाण पण्णवणपज्जा ॥

—सन्मति० ३।६०

८० ण हु सासणभत्ती मेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ।
ण वि जाणओ वि णियमा, पण्णवणाणिच्छिओणाम ॥

—सन्मति० ३।६३

७२ जो वाणी से सदा सुन्दर बोलता है, और कर्म से सदा सदाचरण करता है, वह व्यक्ति समय पर बरसने वाले मेघ की तरह सदा प्रशसनीय और जनप्रिय होता है।

७३ बंधन चाहे सोने का हो या लोहे का, बंधन तो आखिर दु खकारक ही है। बहुत मूल्यवान दंड (डंडे) का प्रहार होने पर भी दर्द तो होता ही है।

७४ पर्यायदृष्टि से सभी पदार्थ नियमेन उत्पन्न भी होते हैं, और नष्ट भी। परन्तु द्रव्यदृष्टि से सभी पदार्थ उत्पत्ति और विनाश से रहित सदा-काल ध्रुव हैं।

७५. द्रव्य कभी पर्याय के बिना नही होता है, और पर्याय कभी द्रव्य के बिना नही होता है। अत द्रव्य का लक्षण उत्पाद, नाश और ध्रुव (स्थिति) रूप है।

७६ अपने-अपने पक्ष मे ही प्रतिबद्ध परस्पर निरपेक्ष सभी नय (मत) मिथ्या हैं, असम्यक् हैं। परन्तु ये ही नय जब परस्पर सापेक्ष होते हैं, तब सत्य एवं सम्यक् बन जाते हैं।

७७ जैन दर्शन मे न एकान्त भेदवाद मान्य है और न एकान्त अभेदवाद। (अत' जैन दर्शन भेदाभेदवादी दर्शन है।)

७८ जितने वचनविकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने भी नयवाद हैं, संसार मे उतने ही पर समय हैं, अर्थात् मत मतान्तर हैं।

७९ वस्तुतत्त्व की प्ररूपणा द्रव्य[1], क्षेत्र[2], काल[3], भाव[4], पर्याय[5], देश[6], सयोग[7] और भेद[8] के आधार पर ही सम्यक् होती है।

८० मात्र आगम की भक्ति के बल पर ही कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नही हो सकता। और हर कोई सिद्धान्त का ज्ञाता भी निश्चित रूप से प्ररूपणा करने के योग्य प्रवक्ता नही हो सकता।

---

१. पदार्थ की मूल जाति, २ स्थिति क्षेत्र, ३ योग्य समय, ४ पदार्थ की मूल शक्ति, ५ शक्तियो के विभिन्न परिणमन अर्थात् कार्य, ६ व्यावहारिक स्थान, ७ आस-पास की परिस्थिति, ८ प्रकार।

८१. सुत्तं अत्थनिमेण, न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा॥
—सन्मति० ३।६४

८२. णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दोवि एगता।
—सन्मति० ३।६८

८३. भद्दं मिच्छादसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥
—सन्मति० ३।६९

८४. जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स॥
—सन्मति० ३।७०

८५. अक्खेहि णरो रहिओ, ण मुणइ सेसिंदएहिं वेएइ।
जूयंधो ण य केण वि, जाणइ संपुण्णकरणो वि॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार ६६

८६. पासम्मि वहिणिमाय, सिसुं पि हणेइ कोहंधो।
—वसु० श्रा० ६७

८७. जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५

८८ सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता॥
—कार्तिके० ९१

८९. सकप्पमओ जीओ, सुखदुक्खमयं हवेइ सकप्पो।
—कार्तिके० १८४

९०. अंतरतच्चं जीवो, वाहिरतच्चं हवंति सेसाणि।
—कार्तिके० २०५

९१. हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
—कार्तिके० ३३४

८१. सूत्र (शब्द पाठ) अर्थ का स्थान अवश्य है। परन्तु मात्र सूत्र से अर्थ की प्रतिपत्ति नही हो सकती। अर्थ का ज्ञान तो गहन नयवाद पर आधारित होने के कारण बडी कठिनता से हो पाता है।

८२ क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया-दोनो ही एकान्त हैं, (फलत जैन दर्शनसम्मत नही है।)

८३ विभिन्न मिथ्यादर्शनो का समूह, अमृतसार=अमृत के समान क्लेश का नाशक, और मुमुक्षु आत्माओ के लिए सहज सुवोध भगवान जिन-प्रवचन का मंगल हो।

८४. जिसके विना विश्व का कोई भी व्यवहार सम्यग् रूप से घटित नही होता है, अतएव जो त्रिभुवन का एक मात्र गुरु (सत्यार्थ का उपदेशक) है, उस अनेकान्त वाद को मेरा नमस्कार है।

८५ आँखो से अन्धा मनुष्य, आँख के सिवाय वाकी सव इन्द्रियो से जानता है, किन्तु जूए मे अन्धा हुआ मनुष्य सव इन्द्रियाँ होने पर भी किसी इन्द्रिय से कुछ नही जान पाता।

८६ क्रोध मे अन्धा हुआ मनुष्य पास मे खडी मा, वहिन और वच्चे को भी मारने लग जाता है।

८७. जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ वुढापा, लक्ष्मी के साथ विनाश निरन्तर लगा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को नश्वर समझना चाहिए।

८८ सव जगह प्रिय वचन वोलना, दुर्जन के दुर्वचन वोलने पर भी उसे क्षमा करना, और सव के गुण ग्रहण करते रहना—यह मदकषायी (शान्त स्वभावी) आत्मा के लक्षण हैं।

८९. जीव सकल्पमय है, और सकल्प सुखदु खात्मक हैं।

९० जीव (आत्मा) अन्तस्तत्त्व है, वाकी सव द्रव्य वहिस्तत्व है।

९१. साधक दूसरो को सतोप देने वाला हितकारी और मित—सक्षिप्त वचन वोलता है।

९२. जो वहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेव गिण्हेदि ।
वीसरियं पि न गिण्हदि, लाभे थूये हि तूसेदि ॥

—कार्तिके० ३३५

९३. धम्मो वत्थुसहावो ।

—कार्तिके० ४७८

९४. निग्गहिए मणपसरे, अप्पा परमप्पा हवइ ।

—आराधनासार २०

९५. मणणरवइए मरणे, मरंति सेणाइं इन्दियमयाइं ।

—आराधना० ६०

९६. सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ ।

—आराधना० ७४

९७. सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसमेलणाए दोसेण ।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहू मडयससिट्ठा ॥

—भगवती आराधना ३४५

९८. अकहितस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ।

—भग० आ० ३६१

९९. वायाए अकहंता सुजणे, चरिदेहि कहियगा होंति ।

—भग० आ० ३६६

१००. किच्चा परस्स णिंदं, जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ।
सो इच्छदि आरोग्गं, परम्मि कडुओसहे पीए ॥

—भग० आ० ३७१

१०१. दट्ठूण अण्णदोसं, सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ।

—भग० आ० ३७२

१०२. सम्मद्दसणलंभो वर खु तेलोक्कलंभादो ।

—भग० आ० ७४२

१०३. णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हू चित्तहत्थिस्स ।

—भग० आ० ७६०

९२. वही सद् गृहस्थ श्रावक कहलाने का अधिकारी है, जो किसी की बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य देकर नही ले, किसी की भूली हुई वस्तु को ग्रहण नही करे, और थोड़ा लाभ (मुनाफा) प्राप्त करके ही सतुष्ट रहे।

९३. वस्तु का अपना स्वभाव ही उसका धर्म है।

९४. मन के विकल्पो को रोक देने पर आत्मा, परमात्मा बन जाता है।

९५. मन रूप राजा के मर जाने पर इन्द्रिया रूप सेना तो स्वय ही मर जाती है। (अत. मन को मारने—वश मे करने का प्रयत्न करना चाहिए।)

९६. चित्त को (विषयो से) शून्य कर देने पर उसमे आत्मा का प्रकाश झलक उठता है।

९७ दुर्जन की सगति करने से सज्जन का भी महत्त्व गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है।

९८. अपने तेज का बखान नही करते हुए भी सूर्य का तेज स्वत. जगविश्रुत है।

९९. श्रेष्ठ पुरुष अपने गुणो को वाणी से नही, किंतु सच्चरित्र से ही प्रकट करते हैं।

१००. जो दूसरों की निंदा करके अपने को गुणवान प्रस्थापित करना चाहता है, वह व्यक्ति दूसरो को कड़वी औषध पिला कर स्वयं रोगरहित होने की इच्छा करता है।

१०१. सत्पुरुष दूसरे के दोष देख कर स्वयं मे लज्जा का अनुभव करता है। (वह कभी उन्हें अपने मुह से नही कह पाता)।

१०२. सम्यक् दर्शन की प्राप्ति तीन लोक के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है।

१०३. मन रूपी उन्मत्त हाथी को वश मे करने के लिए ज्ञान अकुश के समान है।

१०४. सव्वेसिमासमाणं हिदय गब्भो व सव्वसत्थाणं ।

—भग० आ० ७६०

१०५. जीवो बभा जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो ।
त जाण बभचेर, विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥

—भग० आ० ८७८

१०६ होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो, तध ण पित्तउम्मत्तो ।

—भग० आ० १३३१

१०७. कोवेण रक्खसो वा, णराण भीमो णरो हवदि ।

—भग० आ० १३६१

१०८. रोसेण रुद्दहिदओ, णारगसीलो णरो होदि ।

—भग० आ० १३६६

१०९ सयणस्स जणस्स पिओ, णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाण जस च अत्थ, लभदि सकज्ज च साहेदि ॥

—भग० आ० १३७९

११०. सच्चाण सहस्साण वि, माया एक्कावि णासेदि ।

—भग० आ० १३८४

१११ मग्गो मग्गफल ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।

—मूलाचार २०२

११२ मणसलिले थिरभूए, दीसइ अप्पा तहाविमले ।

—तत्वसार ४१

१०४ अहिंसा सब आश्रमो का हृदय है, सब शास्त्रो का गर्भ—उत्पत्तिस्थान है।

१०५ ब्रह्म का अर्थ है–आत्मा, आत्मा मे चर्या–रमण करना–ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी की पर देह मे प्रवृत्ति और तृप्ति नही होती।

१०६ वात, पित्त आदि विकारो से मनुष्य वैसा उन्मत्त नही होता, जैसा कि कषायों से उन्मत्त होता है। कषायोन्मत्त ही वस्तुत उन्मत्त है।

१०७. क्रुद्ध मनुष्य राक्षस की तरह भयकर बन जाता है।

१०८ क्रोध से मनुष्य का हृदय रौद्र बन जाता है। वह मनुष्य होने पर भी नारक (नरक के जीव) जैसा आचरण करने लग जाता है।

१०९ निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन–सभी को सदा प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और सपत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है।

१११ एक माया (कपट)—हजारो सत्यो का नाश कर डालती है।

१११. जिन शासन (आगम) मे सिर्फ दो ही बात बताई गई हैं–मार्ग और मार्ग का फल।

११२ मन रूपी जल, जब निर्मल एव स्थिर हो जाता है, तब उसमे आत्मा का दिव्य रूप झलकने लग जाता है।